धर्म-रहस्य

— स्वामी विवेकानन्द

स्वामी विवेकानन्द ग्रंथमाला, संख्या-४

धर्म-रहस्य

स्वामी विवेकानन्द

प्रभात प्रकाशन दिल्ली

प्रकाशक :

प्रभात प्रकाशन,

२०५, चावड़ी बाजार,

दिल्ली

*

सम्पादक :

राजेश दीक्षित

*

प्रथम संस्करण

१९५९ ई०

*

सर्वाधिकार सुरक्षित

*

मुद्रक :

सुभाष प्रिन्टिंग प्रेस,

तिलक द्वार,

मथुरा

*

मूल्य :

दो रुपया

दो शब्द

'धर्म-रहस्य' 'स्वामी विवेकानन्द ग्रन्थमाला' की चौथी पुस्तक है। इसमें स्वामीजी द्वारा देश तथा विदेशों में दिए गए धर्म सम्बन्धी पाँच सुप्रसिद्ध व्याख्यान संकलित किए गए हैं।

इन व्याख्यानों में धर्म के सार्वभौमिक स्वरूप के महत्व को भलीभाँति समझाया गया है तथा धर्म के व्यावहारिक पक्ष की चर्चा करते हुए यह युक्तियुक्त आग्रह किया गया है। आज के युग में उसी धर्म की आवश्यकता है जो सभी मत-सम्प्रदायों में सामञ्जस्य स्थापित करता हुआ हमें यथार्थ मनुष्य की ओर अग्रसर करने में सहायता प्रदान कर सके।

अन्तिम व्याख्यान में हिन्दूधर्म के आधारभूत विषयों की विशद् चर्चा की गई है। आशा है, धर्म-प्रेमी सज्जनों के लिए यह संकलन अत्यन्त उपादेय सिद्ध होगा।

—राजेश दीक्षित

अनुक्रमणिका

*

१– धर्म क्या वस्तु है ?	...	५
२– सार्वभौमिक धर्म का आदर्श	...	२६
३– सार्वभौमिक धर्म-लाभ का उपाय	...	६२
४– भारत का सनातन धर्म	...	८९
५– हिन्दूधर्म के साधारण आधार	...	९७

धर्म क्या वस्तु है ?

रेलवे लाइन के ऊपर से एक बड़ी रेलगाड़ी द्रुत गति से चली आरही थी, उस लाइन के ऊपर से एक छोटा-सा कीड़ा जा रहा था। गाड़ी को आते हुए देखकर उसने लाइन से धीरे-धीरे नीचे उतर कर अपने प्राण बचा लिए। यद्यपि वह क्षुद्र कीड़ा इतना नगण्य है कि किसी भी क्षण रेलगाड़ी से दब कर उसकी मृत्यु हो सकती है—फिर भी, वह एक जीवित पदार्थ है तथा रेल-गाड़ी इतनी विशाल, इतनी प्रकाण्ड होने पर भी केवल एक यंत्र ही है, एक जड़-एंजिन ही है। आप कहेंगे—एक में जीवन है तथा दूसरा केवल जड़-पदार्थ है। उसकी कितनी भी शक्ति क्यों न हो, उसकी गति तथा वेग कितना ही प्रबल क्यों न हो, वह मृत-जड़-यंत्र के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। और वह क्षुद्र कीड़ा जो लाइन के ऊपर चल रहा था, और एंजिन के स्पर्शमात्र से ही जिसकी मृत्यु निश्चित थी, वह उस विशाल

रेलगाड़ी की तुलना में कहीं श्रेष्ठ तथा महिमासम्पन्न है। वह उस अनन्त स्वरूप का ही केवल एक क्षुद्र अंश है, इसीलिए वह उस शक्तिशाली एंजिन से श्रेष्ठ है। उसका यह श्रेष्ठत्व क्यों हुआ ? जीवित, प्राण-सम्पन्न वस्तु से मृत-जड़-पदार्थ की भिन्नता को हम किस प्रकार समझ सकते हैं ? यंत्र-निर्माता ने उसे जिस तरह परिचालित करने की इच्छा से बनाया था, वह यंत्र केवल उतना ही कार्य करता है, जीवित प्राणी की भाँति उसके सब कार्य नहीं है। तो फिर, जीवित तथा मृत का भेद किस तरह किया जाय ? जीवित-प्राणी के भीतर स्वाधीनता है, ज्ञान है। तथा मृत-जड़पदार्थ में स्वाधीनता नहीं है, क्योंकि, उसको ज्ञान नहीं है। वह कुछ जड़ नियमों की सीमा में बँधा हुआ है। यह जो स्वाधीनता है जिसके रहने पर ही हमारा यंत्र से विशेषत्व है—उस स्वाधीनता को पूर्ण भाव से प्राप्त करने के लिए ही हम सब प्रयत्न कर रहे हैं। हमारे जितने प्रकार के प्रयत्न हैं—उन सबका यही उद्देश्य है कि हम किस प्रकार अधिक स्वाधीन हों। क्योंकि, पूर्ण स्वाधीनता पाने पर ही हम पूर्णत्व को प्राप्त कर सकते हैं। हम जानें अथवा न जानें, स्वाधीनता पाने का यह प्रयत्न ही सब तरह की उपासना-प्रणालियों की भित्ति है।

संसार में जितनी तरह की उपासना-प्रणालियाँ प्रचलित हैं, यदि हम उन सबका विश्लेषण करें तो हमें ज्ञात होगा कि अत्यन्त सभ्य-जातियाँ भी भूत-प्रेत आदि की उपसना करती हैं। पूर्वजों की आत्मा की उपासना, सर्प-पूजा, जातीयदेव-विशेष की उपासना—इन सब को लोग किसलिए करते हैं ? कारण यह है कि जैसे भी हो, लोग यह समझते

हैं कि उक्त देवता आदि पुरुषगण हमारी अपेक्षा अधिक बड़े हैं, अधिक शक्तिशाली हैं तथा वे हमारी स्वाधीनता में बाधा डालते हैं। इसीलिए वे उन सब पुरुषों को सन्तुष्ट करने का प्रयत्न करते हैं, ताकि वे उनका किसी तरह का अनिष्ट न करें अर्थात् जिससे वे अधिक स्वाधीनता का उपभोग कर सकें। इन सब श्रेष्ठ-पुरुषों की पूजा करके, उनको सन्तुष्ट करके, वरदान के रूप में अनेकों प्रकार की काम्य-वस्तुओं को उनके द्वारा प्राप्त करने की इन उपासकों को इच्छा रहती है। जिन सबको अपने प्रयत्न द्वारा प्राप्त करना उचित है, उन्हें वे देवता की कृपा से प्राप्त करना चाहते हैं।

कुछ भी हो, तात्पर्य यह है कि इन सब उपासना-प्रणालियों की आलोचना से यही ज्ञात होता है कि समस्त संसार कुछ अद्भुत बातों की आशा कर रहा है। यह आशा हमें कभी भी नहीं छोड़ती, और हम कितने भी प्रयत्न क्यों न करें, हम सब इसी अद्भुत् तथा आश्चर्यजनक की ओर ही आगे बढ़ रहे हैं। जीवन के अर्थ तथा उसके रहस्य के अविराम-अनुसन्धान को छोड़कर, हमारे मन का और क्या अर्थ होता है ? हम कहेंगे कि आश्चर्यजनक-अनुसन्धान में अशिक्षित लोग ही व्यस्त हैं। परन्तु वे भी उसका अनुसन्धान क्यों करें ? इस प्रश्न से तो हम सरलता पूर्वक छुटकारा नहीं पा सकते।

बाइबिल में देखा जाता है कि समस्त यहूदी-संसार ईसामसीह के निकट निदर्शन स्वरूप एक अलौकिक घटना देखने की इच्छा प्रकट करता था। केवल यहूदी ही क्यों, समस्त संसार ही सहस्रों वर्षों से अब तक इस प्रकार की अलौकिक-घटनाऐं देखने की प्रत्याशा करता चला आरहा है।

और यह भी देखिए कि समस्त संसार में सब के भीतर इस एक ही असंतोष का भाव दिखाई देता है। हमने एक आदर्श को पकड़ा, जीवन के एक लक्ष्य को स्थिर किया—परन्तु उसकी ओर आगे बढ़ते ही, आधे मार्ग में पहुँचते ही, एक अन्य नये आदर्श को पकड़ लिया। एक निश्चित लक्ष्य की ओर जाने के लिए हमने कठोर प्रयत्न किए, परन्तु शीघ्र ही यह समझ गए कि उसमें हमारा कोई प्रयोजन नहीं है। हममें समय-समय पर ऐसे असंतोष का भाव आरहा है, परन्तु यदि इस असंतोष की शान्ति न हो तो हमारे इन मानसिक प्रयत्नों का क्या परिणाम होगा? इस सार्वजनीन असंतोष का क्या अर्थ है? इसका यह अर्थ है कि स्वाधीनता प्राप्त करना ही मनुष्य जीवन का चरमलक्ष्य है—जबतक वह स्वाधीनता को प्राप्त नहीं करता, तबतक किसी प्रकार भी उसका असंतोष दूर नहीं हो सकता। मनुष्य सदैव से ही स्वाधीनता की खोज कर रहा है। मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन केवल इसी स्वाधीनता को प्राप्त करने का प्रयत्न है। बालक जन्म लेते ही नियम के विरुद्ध विद्रोही हो जाता है। वह पैदा होते ही रोने लगता है। इसका अर्थ और कुछ नहीं है—वह जन्म लेते ही यह देखता है कि वह विभिन्न-अवस्था-चक्र में आबद्ध है—अतः वह जैसे रोकर उक्त अवस्था का प्रतिवाद करते हुए, अपने अन्तर्निहित-मुक्ति की आकांक्षा को प्रकट करता है। मनुष्य की स्वाधीनता तथा मुक्ति की आकांक्षा से ही उसकी यह धारणा उत्पन्न होती है कि एक ऐसा पुरुष अवश्य है, जो पूर्णतः मुक्त स्वभाव है। अतः देखा जाता है कि ईश्वर की धारणा मनुष्य के मन का स्वाभाविक गुण है।

वेदान्त में, मानव-मन की सर्वोच्च ईश्वर-धारणा 'सच्चिदानन्द' नाम से निर्दिष्ट की गई है। वह चिद्घन तथा स्वभावतः आनन्दघन स्वरूप है। हम बहुत समय से उस सच्चिदानन्द-स्वरूप की आभ्यन्तरीण वाणी को दबाकर रखने का प्रयत्न करते आए हैं। हम नियम का अनुशरण करने का प्रयत्न करके अपनी स्वाभाविक मानव-प्रकृति की स्फूर्ति में बाधा देने का प्रयत्न कर रहे हैं, परन्तु हमारा आभ्यन्तरीण मानव-स्वभाव-सुलभ सहज-संस्कार, प्रकृति की नियमावली के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए हमें प्रवृत्त कर रहा है। चाहे हम इसका अर्थ न समझें, परन्तु अज्ञात भाव से हमारे मानसिक भाव के साथ आध्यात्मिक भाव का, निम्नस्तर के मन के साथ उच्चतर मन का, संग्राम चल रहा है तथा इस प्रतिद्वन्द्विता के संघर्ष से अपना एक अलग अस्तित्त्व बचा रखने की—जिसे हम अपनापन अथना व्यक्तित्व कहते हैं, उसे बचा रखने की—एक विशेष चेष्टा देखी जाती है।

यहाँ तक कि जिन मनुष्यों ने नरक के अस्तित्त्व की भी कल्पना की है, उनमें भी यह अद्भुत बात पाई जाती है कि हम जन्म से ही प्रकृति के विरुद्ध आचरण करते रहते हैं—जन्म लेते ही हमें किन्हीं नियमों में बाँधने का प्रयत्न किया जाता है हम उसका विरोध करते हुए यह कहते हैं कि हम किसी प्रकार के नियम से नहीं चलेंगे। जब हम जन्म लेते हैं, तो जीवन-प्रवाह के प्रथम आर्विभाव में ही हमारे जीवन की प्रथम घटना प्रकृति के विरुद्ध आचरण होती है। हम जितने दिन प्रकृति की नियमावली को मानकर चलते हैं, उतने दिन यंत्र की भाँति हैं—उतने दिन यह संसार-प्रवाह अपनी गति से चलता रहता है— हम उसकी शृंखला

को तोड़ नहीं सकते । नियम का पालन ही मनुष्य की प्रकृति बन जाता है । परन्तु जब हमारे भीतर प्रकृति का यह बन्धन तोड़कर मुक्त होने की चेष्टा उत्पन्न होती है, तभी उच्चस्तर के जीवन का प्रथम उन्मेष हुआ, ऐसा समझना होगा । मुक्ति—स्वाधीनता—आत्मा के अन्तस्तल से यही संगीत-ध्वनि निरन्तर उठ रही है, परन्तु हाय ! वह अनन्त नित्य-चक्र में घूम रही है—वह प्रकृति की सैकड़ों जंजीरों में बद्ध हो रही है ।

यह जो नाग पूजा है—भूत-प्रेत की उपासना तथा भिन्न-भिन्न धर्म-मतों एवं साधनाओं की सहायता से अति प्राकृतिक शक्ति-लाभ करने का जो प्रयत्न दिखाई देता है, इस सबका क्या अर्थ है ? किसी वस्तु में जीवन-शक्ति है, उसके भीतर एक यथार्थ सत्ता है, इस बात को हम क्यों कहते हैं ? अवश्य ही इन सब अनुसंधानों के भीतर, जीवनी-शक्ति को समझने की, यथार्थ सत्ता की व्याख्या करने की चेष्टा के भीतर कोई अर्थ है । वह कभी निरर्थक अथवा व्यर्थ नहीं हो सकती । वह सब मनुष्य के मुक्ति लाभ की – पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त करने की चेष्टा का ही फल है । हम जिस विद्या को विज्ञानशास्त्र कहते हैं, वह सहस्रों वर्षों से स्वाधीनता प्राप्त करने का प्रयत्न करता आरहा है तथा सब लोग इस स्वाधीनता की ही आकांक्षा कर रहे हैं । परन्तु प्रकृति के भीतर तो स्वाधीनता अथवा मुक्ति नहीं है, उसके भीतर नियम—केवल नियम है; फिर भी यह मुक्ति का प्रयत्न चल रहा है । विशाल सूर्यमंडल से लेकर क्षुद्रतम परमाणु तक, सभी प्रकृति के नियम के अधीन हैं—यहाँ तक कि मनुष्य को भी स्वाधीनता प्राप्त नहीं है, परन्तु हम इस बात पर विश्वास

नहीं कर सकते कि हम अनादिकाल से प्राकृतिक नियमावली की आलोचना करते आरहे हैं, फिर भी, मनुष्य भी नियम के अधीन है—इस बात पर भी हम विश्वास नहीं कर सकते, विश्वास करना भी नहीं चाहते—क्योंकि हमारी आत्मा के अन्तस्तल से निरन्तर 'मुक्ति ! मुक्ति ! स्वाधीनता ! स्वाधीनता !' यही अनन्त-संगीत-ध्वनि उठ रही है । जब मनुष्य ने नित्यमुक्ति पुरुष-स्वरूप ईश्वर की धारणा प्राप्त की है, तब वह अनन्तकाल तक के लिए बन्धन के भीतर रहकर शान्ति नहीं पा सकता । मनुष्य को उच्च से उच्च मार्ग पर आगे बढ़ना होगा तथा उसका यह प्रयत्न यदि अपने लिए न होता, तो इसे वह अत्यन्त कष्टदायक समझता । मनुष्य अपनी ओर देखकर यह कहा करता है—"मैं जन्म के साथ ही प्रकृति का क्रीतदास हूँ—बद्ध हूँ, तब भी एक ऐसे पुरुष हैं, जो प्रकृति के नियम में बद्ध नहीं हैं—जो नित्य मुक्ति तथा प्रकृति के भी स्वामी हैं ।" अतः बन्धन की धारणा भी प्रकृतिगत तथा हमारे मन का अछेद्य अंश स्वरूप है । इस स्वाधीनता के भाव से ही दोनों की उत्पत्ति हुई है । अधिक क्या, स्वाधीनता का भाव न रहने पर उद्भिज के भीतर भी जीवनी-शक्ति विद्यमान नहीं रह सकती । उद्भिज अथवा कीट के भीतर वह जीवनी-शक्ति विकसित होकर व्यक्तिगतभाव से प्रकाशित होने का प्रयत्न कर रही है । अज्ञातभाव से मुक्ति का प्रयत्न उनके भीतर कार्य कर रहा है – उद्भिज जीवन धारण कर रहा है, उनका उद्देश्य है—अपने विशेषत्व, अपने विशेष रूप तथा अपने निजत्व की रक्षा करना – उस मुक्ति का अविराम प्रयत्न ही उसके उस प्रयत्न का प्रेरक है—प्रकृति नहीं । हमारी उन्नति के प्रत्येक

सोपान को प्रकृति ही नियमित कर रही है, इस तरह की धारणा करने से स्वाधीनता अथवा मुक्ति के भाव को बिलकुल उड़ा देना पड़ता है, परन्तु जिस तरह हमारे नियम में बद्ध जड़जगंत की धारणा चल रही है, उसी तरह मुक्ति की धारणा भी चल रही है। इन दो धारणाओं का संग्राम निरन्तर चल रहा है। हम अनेक मतमतान्तर एवं भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के विवाद की बात सुन रहे हैं, परन्तु भिन्न-भिन्न मत अथवा भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों का होना अन्याय अथवा अस्वाभाविक नहीं है—वे अवश्य रहेंगे। शृङ्खला जितनी दीर्घ हो रही है, द्वन्द्व भी स्वभावतः उतना ही बढ़ रहा है; परन्तु हम यदि यह समझ लें कि हम सब उसी एक तरह के लक्ष्य की ओर पहुँचने का प्रयत्न कर रहे हैं, तो फिर विवाद का कोई प्रयोजन नहीं रहेगा।

मुक्ति अथवा स्वाधीनता के इस मूर्त्त-विग्रह-स्वरूप प्रकृति के प्रभु को हम 'ईश्वर' कहा करते हैं। आप उन्हें अस्वीकार नहीं कर सकते। इसका यह कारण है कि आप इस स्वाधीनता के भाव को कभी भगा नहीं सकते, इस भाव के बिना एक क्षण भी जीवन धारण नहीं किया जा सकता। यदि आप स्वयं को स्वाधीन कहकर विश्वास नहीं करते तो क्या आप कभी यहाँ आ सकते थे? सम्भव है कि प्राणीतत्त्वविद् आकर इस मुक्त होने के निरन्तर प्रयत्न पर एक व्याख्यान दे सकते हैं और देंगे भी। मैं इस सबको मानता हूँ, परन्तु फिर भी स्वाधीनता का भाव हमारे भीतर से नहीं जाता। जिस तरह हम प्रकृति के अधीन हैं, प्रकृति के बन्धन को किसी तरह नहीं काट सकते, ये भाव हमारे भीतर सदैव वर्त्तमान हैं, उसी प्रकार स्वाधीनता का भाव

भी हमारे भीतर सदैव वर्त्तमान है ।

बन्धन तथा मुक्ति, प्रकाश और छाया, शुभ और अशुभ—सर्वत्र यही दो बातें हैं । समझना होगा कि जहाँ भी किसी तरह का बन्धन है, उसके पीछे मुक्ति भी उक्तभाव से विद्यमान है । यदि एक सत्य हो तो दूसरा भी अवश्य सत्य होगा । सर्वत्र ही मुक्ति की धारणा अवश्य रहेगी । जिस तरह हम अशिक्षित व्यक्तियों में बन्धन की धारणा देखते हैं, उसे हम अभी मुक्ति की धारणा कहकर चाहे न समझें, फिर भी वह धारणा उनके भीतर विद्यमान है । अशिक्षित तथा जंगली मनुष्य के मन में पाप तथा अपवित्रता के बन्धन की धारणा बहुत कम है, क्योंकि उसकी प्रकृति पशु-स्वभाव से अधिक उन्नत नहीं । वह प्रकृति के बन्धन से, वाह्य वस्तु सम्भोग के अभाव से स्वयं को मुक्त करने का प्रयत्न करता रहता है, परन्तु निम्नतम धारणा से उसके मन में मानसिक तथा नैतिक बन्धन की धारणा एवं आध्यात्मिक स्वाधीनता की आकांक्षा धीरे-धीरे जग उठती है । यहाँ हम यह देखते हैं कि वही ईश्वरीयभाव अज्ञान के आवरण के भीतर से क्षीण रूप में प्रकाशित हो रहा है । सर्व प्रथम वह आवरण अत्यन्त घना रहता है तथा यह ज्ञात होता है वह ब्रह्म-ज्योति एक प्रकार उससे ढकी हुई है, परन्तु यथार्थ में वही मुक्ति तथा पूर्णता रूप उज्ज्वल अग्नि स्तब्ध तथा अनाच्छादितभाव से सदैव ही वर्त्तमान रहती है । उसी में व्यक्ति-धर्म का आरोप करके मनुष्य उसे ब्रह्मांड का नियन्ता एक-मात्र मुक्त-पुरुष कहकर उसकी धारणा करता है । वह तब भी नहीं जानता कि समस्त ब्रह्मांड एक अखंड वस्तु है—केवल परिमाण तथा धारणा के विचार में प्रभेद है ।

समस्त प्रकृति ही ईश्वर की उपासना स्वरूप है। जहाँ भी किसी तरह का जीवन है, वहीं मुक्ति का अनुसन्धान है तथा वह मुक्ति ही ईश्वर स्वरूप है। जहाँ भी किसी तरह का जीवन है, वहीं मुक्ति की खोज है। तथा वह मुक्ति ही ईश्वर स्वरूप है। इस मुक्ति को प्राप्त करने पर सम्पूर्ण प्रकृति पर आधिपत्य अवश्य ही प्राप्त हो जाता है तथा ज्ञान के बिना मुक्ति को पाना असम्भव है। हम जितने अधिक ज्ञान सम्पन्न होते हैं, उतना ही प्रकृति पर अधिकार प्राप्त कर लेते हैं तथा प्रकृति जितनी हमारे वशीभूत होती जाती है, उतने ही हम अधिक शक्ति-सम्पन्न, अधिक ओजस्वी होते जाते हैं, और यदि कोई पुरुष ऐसे हों, जो सम्पूर्ण मुक्त तथा प्रकृति के प्रभु हैं, तो उन्हें अवश्य ही प्रकृति का पूर्ण ज्ञान रहेगा। वे सर्वव्यापी तथा सर्वज्ञ होंगे। वे मुक्ति तथा स्वाधीनता के साथ अवश्य रहेंगे तथा जो व्यक्ति उन्हें जान लेंगे, केवल वे ही प्रकृति से परे जाने में समर्थ हो सकेंगे।

वेदान्त में ईश्वर-विषयक जो सब तत्त्व पढ़ने को मिलते हैं, उनके मूल में पूर्णमुक्ति तथा स्वाधीनता से उत्पन्न परमानन्द एवं नित्य शान्ति रूप धर्म की उच्चतम धारणा विद्यमान है। सम्पूर्ण मुक्ति-भाव से अवस्थान—कुछ भी उसे बद्ध नहीं कर सकता, वहाँ प्रकृति नहीं है, किसी तरह का परिवर्त्तन नहीं है, ऐसा कुछ भी नहीं है, जो उसमें किसी प्रकार का परिणाम उत्पन्न कर सके। यह मुक्त-भाव आपके भीतर है, मेरे भीतर है तथा यही एकमात्र यथार्थ स्वाधीनता है।

ईश्वर सदैव ही अपने महिमामय अपरिणामी स्वरूप पर प्रतिष्ठित है। आप तथा हम उनके साथ एकाकार होने

का प्रयत्न कर रहे हैं, परन्तु इधर बन्धन की कारणीभूत-प्रकृति, नित्य-जीवन की छोटी-छोटी बातें, धन, नाम, यश, मानव-प्रेम आदि प्राकृतिक विषयों पर निर्भर है । परन्तु यह जो सम्पूर्ण प्रकृति प्रकाश प्राप्त कर रही है, उसका प्रकाश किस पर निर्भर है ? ईश्वर के प्रकाश से ही प्रकृति को प्रकाश मिलता है—सूर्य, चन्द्र तथा नक्षत्रों के प्रकाश से नहीं ।

जहाँ कुछ भी वस्तु प्रकाशित है, चाहे वह सूर्य के प्रकाश से हो अथवा हमारी अन्तरात्मा के प्रकाश से हो; सब में वे ही हैं । वे प्रकाश पा रहे हैं, इसीलिए समुदय संसार प्रकाश पा रहा है ।

हमने देखा कि वे ईश्वर स्वतः सिद्ध हैं, वे व्यक्ति नहीं हैं; फिर भी सर्वज्ञ, प्रकृति के ज्ञाता तथा स्वामी एवं सबके ईश्वर हैं । वे समस्त उपासनाओं के मूल में विद्यमान हैं । हम चाहे समझें अथवा न समझें, सर्वत्र उन्हीं की उपासना हो रही है । केवल इतना नहीं, मैं कुछ और भी आगे बढ़कर कहना चाहता हूँ, और सम्भवतः आप सभी इस बात को सुनकर आश्चर्यचकित भी होंगे, परन्तु इसमें सन्देह नहीं, और मैं कहता हूँ—जिसे अशुभ कहा जाता है, वह भी उन्हीं की उपासना है । वह भी मुक्ति का एक कोना है । केवल वही नहीं, सम्भवतः आप मेरी इस बात को सुनकर भय-भीत हो जाएंगे, परन्तु मैं कहता हूँ—जब आप कोई अन्याय-पूर्ण कार्य कर रहे हैं तो उसके पीछे भी उस मुक्ति की अदम्य आकांक्षा ही प्ररोचक शक्ति-रूप से विद्यमान है । यह सम्भव है कि वह गलत मार्ग पर जा रही है, परन्तु वह विद्यमान अवश्य है—यह कहना पड़ेगा । और फिर, उस

मुक्ति की स्वाधीनता की प्रेरणा न रहने पर किसी प्रकार का जीवन अथवा किसी प्रकार की प्रेरणा भी नहीं रह सकती ।

समस्त ब्रह्मांड मैं मुक्ति—स्वाधीनता—का स्पंदन हो रहा है । इस ब्रह्मांड के अन्तरतम प्रदेश में यदि एकत्व न रहता, तो हम बहुत की धारणा कर ही नहीं सकते थे । उपनिषद् में ईश्वर की धारणा इसी तरह है । समय-समय पर यह धारणा और भी ऊँचे स्तर में उठी है—उसने हमारे समक्ष एक ऐसे आदर्श की स्थापना की है—जिससे पहले-पहल तो हमें स्तम्भित रह जाना पड़ता है—वह आदर्श यह है कि हम स्वरूपत: ईश्वर से अभिन्न हैं । वे ही तितली के विचित्र वर्ण हैं तथा वे ही प्रस्फुटित गुलाबपुष्प के रूप में आविर्भूत हुए हैं । जिन्होंने हमें जीवन दिया है, वे ही हमारे हृदय में शक्ति-रूप से विद्यमान हैं, उनके तेज से जीवन का आविर्भाव तथा उन्हीं की शक्ति से कठोरतम मृत्यु होती है । उनकी छाया ही मृत्यु है तथा उनकी छाया ही अमृतत्व है । एक अन्य उच्च धारणा की बात भी कहता हूँ, जो कुछ भी भयानक है, उसके द्वारा हम सभी बहेलिए से खदेड़े हुए खरगोश की तरह भाग रहे हैं, उसी की तरह मुँह को छिपाकर स्वयं को निरापद समझते हैं । इसी प्रकार यह समस्त संसार जो कुछ भी भयानक देखता है, उसके समीप से भागने का प्रयत्न कर रहा है । मैं एक बार काशी में किसी स्थान पर जारहा था, वहाँ एक ओर बड़ा जलाशय तथा दूसरी ओर ऊँची दीवाल थी । उस जगह बहुत से बंदर रहते थे । काशी के बंदर अत्यन्त दुष्ट होते हैं । उस समय उनके मस्तिष्क में यह विकार उत्पन्न हुआ कि वे मुझे उस मार्ग

से न जाने दें । वे विकट-चीत्कार करने लगे तथा शीघ्रता-पूर्वक आकर मेरे पाँवों से लिपटने लगे । उन्हें अपने पास आया हुआ देखकर मैं भागने लगा । परन्तु मैं जितना अधिक शीघ्रता से दौड़ने लगा, वे भी उतनी ही अधिक तेजी से आकर मुझे काटने लगे । अन्त में, उनसे छुटकारा पाना असम्भव-सा लगा—ठीक उसी समय एक अपरिचित मनुष्य ने आकर मुझसे कहा—'बन्दरों का सामना करो ।' और मैं भी उलट कर उनके सामने जैसे ही खड़ा हुआ, वैसे ही वे सब पीछे हटकर भाग गए । सम्पूर्ण जीवन हमें यही शिक्षा लेनी पड़ेगी—जो कुछ भी भयानक है, उसका सामना करना पड़ेगा, साहस पूर्वक उसके सामने खड़ा होना पड़ेगा । जिस प्रकार बन्दरों के सामने से न भागकर उनका सामना करने पर वे स्वयं भाग गए थे, उसी तरह हमारे जीवन में जो-जो कष्टदायक बातें हैं, उनका सामना करते ही वे भाग जाती हैं । यदि हमें मुक्ति अथवा स्वाधीनता प्राप्त करनी हो तो हम उसे प्रकृति को जीत लेने पर ही प्राप्त कर सकेंगे । प्रकृति से भागकर नहीं । कापुरुष कभी भी विजय नहीं पा सकता । हमें भय, कष्ट तथा अज्ञान के साथ युद्ध करना होगा, तभी वे हमारे सामने से भाग जाऐंगे ।

मृत्यु क्या है ? भय किसका है ? क्या उन सबके भीतर ईश्वर का प्रेमानन्द दिखाई नहीं पड़ता ? दुःख, कष्ट तथा भय से दूर भागकर देखिए—वे आपका पीछा करेंगे, उनके सामनें खड़े हो जाइए, तो वे भाग जाऐंगे । समस्त संसार सुख तथा आनन्द का उपासक है । जो कष्टदायक है, उसकी उपासना करने का साहस बहुत कम लोग कर पाते हैं । जो मुक्ति चाहते हैं, उन्हें इन दोनों का अतिक्रमण

करना होगा । इस दुःखदायक द्वार के भीतर से गए बिना मनुष्य मुक्त नहीं हो सकता । हम सभी को इसका सामना करना होगा । हम ईश्वर की उपासना करने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु हमारा शरीर इनके तथा हमारे बीच में पड़कर हमारी दृष्टि को अन्धा कर देता है । कठोर वज्र के भीतर, लज्जा, मलिनता, दुःख-दुर्विपाक पाप-ताप के भीतर भी हमें उनसे प्रेम की शिक्षा लेनी पड़ेगी । समस्त संसार धर्ममय ईश्वर का चिरकाल से प्रचार करता चला आरहा है । मैं ऐसे ईश्वर का प्रचार करना चाहता हूँ, जो एकाधार से धर्ममय तथा अधर्ममय दोनों ही है । यदि तुम में साहस हो तो तुम इस ईश्वर को ग्रहण करो—मुक्ति का यही एकमात्र उपाय है—इसके द्वारा ही तुम उस एकत्वरूप चरम-सत्य तक पहुँच सकोगे और तभी यह धारणा नाश को प्राप्त होगी कि एक व्यक्ति दूसरे से बड़ा है । हम इस मुक्ति-तत्व के समीप जितना अधिक जाते हैं, उतने ही हम ईश्वर के आश्रय में आते हैं । हमारा दुःख और कष्ट उतना ही अधिक दूर होता है । उस समय हम नरक के द्वार को स्वर्ग के द्वार से अलग नहीं समझेंगे, उस समय हम मनुष्य-मनुष्य में भेद-बुद्धि करके यह नहीं कहेंगे कि मैं संसार के किसी प्राणी से अधिक श्रेष्ठ हूँ । जबतक हमारी ऐसी अवस्था नहीं होती कि हम संसार में उस प्रभु के अतिरिक्त अन्य किसी को न देखें, तबतक हम दुःख और कष्ट से घिरे हुए ही रहेंगे, तबतक हम सब में भेद ही देखते रहेंगे । क्योंकि, हम उस भगवान में—उसी आत्मा में—अभिन्न हैं और जबतक हम ईश्वर को सब जगह नहीं देखेंगे, तबतक समस्त संसार के एकत्व का अनुभव नहीं कर सकेंगे ।

एक ही वृक्ष पर सुन्दर पंख वाले दो पक्षी हैं उनमें से एक वृक्ष के ऊपरी भाग पर और दूसरा निचले भाग पर बैठा है। नीचे का सुन्दर पक्षी वृक्ष के मीठे तथा कडुए फलों को खाता है—वह एक बार मीठे फल को तथा दूसरी बार कडुए फल को खाता है। उसने जिस मुहूर्त में कडुए फल को खाया, उस समय उसे कष्ट हुआ। कुछ देर बाद उसने एक और फल खाया, जब वह फल भी उसे कडुआ लगा, तब उसने ऊपर की ओर देखा। वहाँ उसे एक दूसरा पक्षी दिखाई पड़ा, वह मीठे अथवा कडुए किसी भी फल को नहीं खाता था। वह अपनी महिमा में मग्न होकर स्थिर तथा धीर भाव से बैठा था। परन्तु नीचे वाला पक्षी उसे देखकर भी फिर भूल से फल खाने लगा—अन्त में उसने एक ऐसा फल खाया जो अत्यन्त ही कडुआ था। उस समय वह फल खाने से मुँह मोड़कर फिर उसी ऊपर वाले महिमामय पक्षी को देखने लगा। धीरे-धीरे वह ऊपर वाले पक्षी की ओर आगे बढ़ने लगा। और जब वह उसके एकदम समीप जा पहुँचा, तब उस ऊपर वाले पक्षी की अंग-ज्योति उसके ऊपर पड़ी तथा धीरे-धीरे उस ज्योति ने उस दूसरे पक्षी को स्वयं में वेष्टित कर लिया। तब उसने देखा कि वह उस ऊपर वाले पक्षी में परिणत हो गया है। तब से वह शान्त, महिमामय तथा मुक्त हो गया। और उसे यह ज्ञात हुआ कि वास्तव में वृक्ष पर दो पक्षी कभी थे ही नहीं, केवल एक ही पक्षी था। नीचे वाला पक्षी तो ऊपर वाले पक्षी की छाया मात्र थी।

इसी तरह हम वास्तव में ईश्वर से अभिन्न हैं, परन्तु जिस तरह एक ही सूर्य लाखों शिशिर-विन्दुओं पर प्रति-

बिम्बित होकर छोटे-छोटे लाखों सूर्य जैसा प्रतीत होता है, उसी तरह ईश्वर भी अनेक जीवात्मा रूप से प्रतिभासित होता है। यदि हम अपने प्रकृत ब्रह्मस्वरूप के साथ अभिन्न होना चाहें, तो प्रतिबम्बि को दूर करना आवश्यक है। विश्व-प्रपंच हमारे कार्यों की सीमा कदापि नहीं हो सकता। इसीलिए कृपण धन संचय करता रहता है, चोर चोरी करता है, पापी पापाचरण करता है तथा आप दर्शन-शास्त्र की शिक्षा लेते हैं। इन सब का उद्देश्य एक ही है। मुक्ति लाभ के अतिरिक्त हमारे जीवन का अन्य कोई उद्देश्य नहीं। ज्ञान से हो अथवा अज्ञान से, हम सब पूर्णता प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहे हैं तथा प्रत्येक व्यक्ति एक-न-एक दिन उसे अवश्य प्राप्त कर ही लेगा।

जो व्यक्ति पापों में मग्न है, जिस व्यक्ति ने नरक के मार्ग का अनुसरण कर लिया है, वह भी इस पूर्णता को प्राप्त करेगा, परन्तु उसे कुछ विलम्ब लगेगा। हम उसका उद्धार नहीं कर सकते। जब वह मार्ग पर चलते-चलते कुछ कठिन चोटें खाएगा, तब वे चोटें ही उसे ईश्वर की ओर प्रेरित करेंगी। अन्त में, वह धर्म, पवित्रता, निःस्वार्थपरता तथा आध्यात्मिकता का मार्ग ढूँढ़ लेगा। दूसरे लोग जिसका अज्ञान में अनुसरण कर रहे हैं, हम उसी धर्म का ज्ञान-पूर्वक अनुसरण कर रहे हैं। सैन्टपाल ने एक स्थान पर इस भाव को अत्यन्त स्पष्ट भाव से कहा है—"तुम जिस ईश्वर की अज्ञान में उपासना कर रहे हो, मैं तुम्हारे निकट उन्हीं की घोषणा कर रहा हूँ।" समस्त संसार को यह शिक्षा ग्रहण करनी होगी। सब दर्शन शास्त्रों तथा प्रकृति के सम्बन्ध में इन सब मतवादों को लेकर क्या होगा, यदि वे जीवन के

इस लक्ष्य तक पहुँचने में सहायता न दे सकें ? आइए, हम भिन्न-भिन्न वस्तुओं में भेद-ज्ञान को दूर करके सब जगह अभेद का दर्शन करें—मनुष्य स्वयं को सब वस्तुओं में देखना सीखे। अब हम ईश्वर सम्बन्धी संकीर्ण-धारणाविशिष्ट धर्ममत तथा सम्प्रदाय-समूह के उपासक न रहकर, संसार में प्रत्येक के भीतर उनका दर्शन करना आरम्भ करें। यदि आप लोग ब्रह्मज्ञ हों, तो अपने हृदय में जो देव-दर्शन कर रहे हैं, उन्हें सब जगह देखने में समर्थ हो सकेंगे।

प्रथम तो सभी संकीर्ण-धारणाओं को त्याग दीजिए, प्रत्येक व्यक्ति में, ईश्वर का दर्शन कीजिए—देखिए, वे सभी हाथों से काम कर रहे हैं, सभी पाँवों से चल रहे हैं, सभी मुखों से भोजन कर रहे हैं, प्रत्येक व्यक्ति में वास कर रहे हैं, सभी मनों के द्वारा वे मनन कर रहे हैं—वे स्वतः प्रमाण हैं—हमारे स्वयं की अपेक्षा वे हमारे अधिक निकटवर्ती हैं। यही जानना धर्म है—यही विश्वास है, प्रभु हमको यही विश्वास दें। जब हम सम्पूर्ण संसार में इस अखंड का अनुभव करेंगे, तब अमर हो जाएंगे। भौतिक दृष्टि से देखने पर भी हम अमर हैं, सम्पूर्ण संसार के साथ एक हैं। जितने दिन तक एक व्यक्ति भी इस संसार में श्वास-प्रश्वास ले रहा है, तबतक मैं उसके भीतर जीवित हूँ, मैं यह संकीर्ण क्षुद्र व्यष्टि-जीव नहीं हूँ, मैं समष्टि रूप हूँ। अतीत काल में जितने प्राणी हो गए हैं, मैं उन सभी का जीवन स्वरूप था। मैं ही बुद्ध, ईसा, मुहम्मद का आत्मस्वरूप हूँ। मैं सब आचार्यों का आत्मस्वरूप हूँ, मैं ही चोरी करने वाले सब चोरों का चोर स्वरूप हूँ, तथा जितने हत्यारे फांसी पर लटकाए गए हैं, उनका स्वरूप भी—मैं ही सर्वमय हूँ। अतः उठो—यही

परा पूजा है । तुम स्वयं सम्पूर्ण जगत् के साथ अभिन्न हो। यही यथार्थ विनय है—घुटने टेक कर 'मैं पापी हूँ, मैं पापी हूँ' कहकर केवल चिल्लाते रहने का नाम ही विनय नहीं है । जब इस भेद का आवरण छिन्न-विछिन्न हो जायगा, तभी सर्वोच्च उन्नति समझनी होगी । सम्पूर्ण संसार का अखंडत्व—यही श्रेष्ठतम धर्ममत है । मैं अमुक हूँ—व्यक्ति विशेष—यह तो अत्यन्त ही संकीर्ण भाव है, यथार्थ सच्चे 'अहं' के लिए यह सत्य नहीं है । मैं समष्टि रूप हूँ—इस धारणा के ऊपर खड़े हो जाइए—इस पुरुषोत्तम की उच्चतम अनुष्ठान प्रणालियों की सहायता द्वारा उपासना कीजिए; क्योंकि ईश्वर जड़-वस्तु नहीं है, वह आत्मा तथा चैतन्य पदार्थ है, अतः भाव की सहायता द्वारा उसकी यथार्थ उपासना करनी होगी । पहले साधक उपासना की निम्नतम प्रणाली का आश्रय लेकर, उपासना करते-करते जड़-विषय की चिन्ता से उच्च-सोपान पर आरोहण करके आध्यात्मिक उपासना के राज्य में उपनीत होता है, तभी अन्त में उस अखंड, अनन्त समष्टि रूप ईश्वर की सहायता से यथार्थ उपासना सम्भव होती है । जो कुछ सान्त है, वह जड़ है । केवल चैतन्य ही अनन्त स्वरूप है । ईश्वर चैतन्य स्वरूप है, अतः वह अनन्त है । मानव चैतन्य स्वरूप है, अतः मानव भी अनन्त है । और केवल अनन्त ही अनन्त की उपासना में समर्थ है । हम उसी अनन्त की उपासना करेंगे, यही सर्वोच्च आध्यात्मिक उपासना है । इन सब भावों का अनुभव करना बहुत बड़ी बात है तथा अत्यन्त कठिन है । मैं मतमतान्तर की बात कह रहा हूँ, दार्शनिक विचार कर रहा हूँ, कितनी बक-बक कर रहा हूँ, इतने में कोई घटना मेरे

प्रतिकूल घटी—मैं अज्ञान से क्रुद्ध हो उठा और तब यह भूल गया कि विश्व-ब्रह्मांड में यह क्षुद्र ससीम मेरे अतिरिक्त और भी कुछ है। उस समय मैं यह कहना भूल गया कि "मैं चैतन्य स्वरूप हूँ—इस अकिंचित्कर बात से मेरा क्या प्रयोजन है—मैं तो चैतन्य स्वरूप हूँ", मैं उस समय यह भूल जाता हूँ कि यह सब मेरी ही लीला है। मैं ईश्वर को भूल जाता हूँ तथा मुक्ति की बात भी भूल जाता हूँ।

पंडितों ने बार-बार यह कहा है—मुक्ति का मार्ग उस्तरे की धार की भाँति तीक्ष्ण, दीर्घ तथा कठिन है—इसे अतिक्रमण करना कठिन है। परन्तु मार्ग कठिन हो, सैकड़ों दुर्बलताएँ आएँ, सैकड़ों बार उद्यम विफल हों, परन्तु वे आपको अपने मुक्ति-पथ पर आगे बढ़ने में हतोत्साह न करेंगे। "उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत।" उठो, जागो, जबतक उस लक्ष्य पर नहीं पहुँच लेते, तबतक निश्चेष्ट मत रहो—यद्यपि वह मार्ग उस्तरे की धार की भाँति तीक्ष्ण है—यद्यपि वह मार्ग लम्बा है, दूरवर्त्ती है, कठिन है; परन्तु हम उस मार्ग का अवश्य ही अतिक्रमण करेंगे। मनुष्य साधना के बल पर एकदिन देवता तथा असुर दोनों का ही स्वामी हो सकता है। हमारे दुःख के लिए स्वयं हमारे अतिरिक्त अन्य कोई उत्तरदायी नहीं है। क्या आप यह समझते हैं कि यदि मनुष्य अमृत के लिए प्रयत्न करे, तो वह उसके बदले में विष प्राप्त करेगा ? प्रभु ने स्वयं कहा है—

"सर्व धर्मान् परित्याज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥"—गीता॥

हम संसार के सभी शास्त्रों को एक स्वर से इसी वाणी

की घोषणा करते हुए सुन रहे हैं। यह वाणी ही सबसे कह रही है—

"स्वर्ग में जैसी, मृत्युलोक में भी वैसी ही तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो; क्यों कि, समुदय ही तुम्हारा राजत्व है, तुम्हारी शक्ति तथा तुम्हारी महिमा है। कठिन, बहुत कठिन बात है। अभी कहा—'हे प्रभो! मैंने अभी तेरी शरण ली—हे प्रेममय! तुम्हारे चरणों पर समुदय समर्पित किया—तुम्हारी वेदी पर, जो कुछ सत्, जो कुछ पुण्य है, सभी कुछ स्थापित किया। मेरा पाप-ताप, भला-बुरा कार्य सब कुछ तुम्हारे चरणों पर समर्पित है—तुम सबको ग्रहण करो—अब मैं तुम्हें कभी नहीं भूलूँगा।' अभी कहा—'तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो।' परन्तु दूसरे ही क्षण जब एक परीक्षा में पड़ गया—तब मेरा वह ज्ञान लुप्त होगया, मैं क्रोध से अन्धा होगया। सब धर्मों का लक्ष्य एक ही है, परन्तु भिन्न-भिन्न आचार्य भिन्न-भिन्न भाषाओं का व्यवहार करते रहते हैं। सबका प्रयत्न इस मिथ्या-'अहं' अथवा कच्चे-'अहं' का विनाश करना है। तब फिर सत्य के 'अहं' अथवा पक्के अहं' के स्वरूप एकमात्र वे प्रभु ही रहेंगे। हिब्रू शास्त्र कहता है—'तुम्हारा प्रभु ईर्ष्या-परायण ईश्वर है—तुम किसी अन्य ईश्वर की उपासना नहीं कर सकोगे।' हमारे हृदय में एकमात्र ईश्वर ही राज्य करें। हमें यह कहना होगा, 'नाहं, नाहं; त्वं, त्वं।' तब उस प्रभु के अतिरिक्त हमें सब कुछ त्यागना होगा; केवल वे ही राज्य करेंगे। मानलीजिए, मैंने खूब कठोर साधना की—परन्तु दूसरे ही क्षण मेरा पाँव फिसल गया—और तब मैंने माँ के समीप हाथ बढ़ाने का प्रयत्न किया—समझ गया कि स्वयं की चेष्टा द्वारा अकंपित भाव से खड़ा होना असम्भव

है । हमारा जीवन—जैसे वह अध्यायसमन्वित ग्रन्थ है, जिसका एक अध्याय यह है—"तुम्हारी इच्छा पूरी हो ।" परन्तु यदि हम उस जीवन के सभी अध्यायों का मर्म ग्रहण करें, तो समुदय-जीवन का अनुभव नहीं कर सकते । "तुम्हारी इच्छा पूरी हो ।" प्रतिक्षण ही विद्रोही-मन इन सब भावों के विरुद्ध खड़ा हो रहा है, परन्तु यदि हमें इस कच्चे-'अहं' को जीतना हो, तो बार-बार उस बात की आवृत्ति करनी होगी । हममें से एक व्यक्ति विद्रोही की सेवा करे तथा परित्राण पा जाय—ऐसा कभी नहीं हो सकता । सबका परित्राण है, केवल विद्रोही का परित्राण नहीं है—और हमारे अङ्ग पर तो विद्रोह की छाप लग रही है । हम अपनी आत्मा के प्रति विद्रोही हैं ।—जब हम अपने यथार्थ अहं की वाणी का अनुसरण करने को तैयार नहीं हैं, तब उस जगन्माता की महिमा के विरुद्ध विद्रोहाचरण करते हैं—अतः कुछ भी क्यों न हो, हमें अपने शरीर और मन को उस इच्छामय की इच्छा में मिला देना होगा । किसी हिन्दू दार्शनिक ने ठीक ही कहा है कि यदि मनुष्य—"तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो", यह बात दो बार उच्चारण करे, तो वह पापाचार करता है । "तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो ।" बस, और क्या प्रयोजन है ? इसे दो बार कहने की आवश्यकता ही क्या ? जो अच्छा है, वह तो अच्छा है ही । जब एक एकबार कह दिया—"तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो", तब तो वह बात लौटाई नहीं जा सकती । स्वर्ग की तरह मृत्युलोक में भी तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो, क्योंकि तुम्हारा ही समुदय राजत्व है, सम्पूर्ण-शक्ति तुम्हारी ही है, तुम्हारी ही सब महिमा है—अनन्त काल तक ।

सार्वभौमिक धर्म का आदर्श

हमारी इन्द्रियाँ चाहे किसी भी वस्तु को ग्रहण क्यों न करें, हमारा मन चाहे किसी भी विषय की कल्पना क्यों न करे, सभी स्थान पर हम दो शक्तियों की क्रिया-प्रतिक्रिया देखते हैं। ये एक दूसरे के विरुद्ध काम करती हैं तथा हमारे चारों ओर जटिल घटनाओं का समूह भी हमारी अनुभूत मानसिक भाव-परम्परा को अविश्रान्त कार्य के रूप में परिणत करता है। यही दो विपरीत शक्तियाँ वाह्य-जगत् में आकर्षण-विकर्षण अथवा केन्द्रभिमुख—केन्द्र-विमुख शक्ति के रूप से तथा अन्तर्जगत् में राग द्वेष अथवा शुभाशुभ के रूप से प्रकाशित होती हैं। हम कितनी ही वस्तुओं को अपने सामने से हटा देते हैं तथा कितनी ही वस्तुओं को अपने सामने खींच लाते हैं, किसी की ओर आकर्षित होते हैं और किसी से दूर रहना चाहते हैं। हमारे जीवन में ऐसा अनेक बार होता है कि हमारा मन किसी की ओर हमें बरबस

आकर्षित करता है। परन्तु हमें इस आकर्षण का कारण नहीं मालूम होता और किसी-किसी समय, किसी व्यक्ति को देखने से ही, बिना किसी कारण के, मन भागने की इच्छा करता है। इस बात का सभी को अनुभव है तथा इस शक्ति का कार्य-क्षेत्र जितना ऊँचा होगा, इन दो विपरीत-शक्तियों का प्रभाव उतना ही तीव्र तथा परिस्फुट होगा। धर्म ही मनुष्य की चिन्ता तथा जीवन का सबसे ऊँचा स्तर है तथा हम यह देखते हैं कि धर्म-जगत् में ही इन दो शक्तियों की क्रिया सबसे अधिक परिस्फुट हुई है। मनुष्य को किसी समय जिसका आस्वाद मिला होगा, वह अत्यन्त गम्भीर प्रेम धर्म से उत्पन्न होता है तथा घोरतम पैशाचिक विद्वेष के भाव का जन्म-स्थान भी, जो मनुष्य के हृदय में समुदित होता है—धर्म ही है। संसार ने किसी समय जो महत्तामय शान्ति वाणी सुनी थी, वह धर्म-राज्य के लोगों के मुख से ही प्रस्फुटित हुई थी तथा संसार ने किसी समय जो तीव्रतम निन्दा तथा अभिशाप सुना है, वह भी धर्म-राज्य के मनुष्यों के मुख से ही निकला है। किसी धर्म का उद्देश्य जितना ऊँचा है, उसकी कार्य प्रणाली जितनी सूक्ष्म है, उसकी क्रियाशीलता भी उतनी ही अद्भुत है। धर्म की प्रेरणा से मनुष्यों ने संसार में जो रक्त की नदियाँ बहाई हैं, मनुष्य के हृदय की अन्य किसी प्रेरणा ने वैसा नहीं किया तथा धर्म की प्रेरणा से मनुष्यों ने जितने चिकित्सालय, धर्मशाला, अन्न क्षेत्र आदि बनाए हैं, उतने अन्य किसी प्रेरणा से नहीं बनाए। मनुष्य के हृदय की अन्य कोई वृत्ति, उसे सम्पूर्ण मानव जाति के लिए तो क्या निकृष्टतम प्राणियों के लिए भी, यत्न करने को प्रवृत्त नहीं करती। धर्म की प्रेरणा से

मनुष्य जितना निष्ठुर हो जाता है, अन्य किसी प्रेरणा से नहीं। इसी तरह धर्म की प्रेरणा से मनुष्य जितना कोमल हो जाता है, उतना अन्य किसी प्रवृत्त से नहीं। अतीत काल में ऐसा ही हुआ है तथा बहुत सम्भव है कि भविष्य में भी ऐसा ही हो। भिन्न-भिन्न जाति तथा धर्म के संघर्ष से निकले हुए इस द्वन्द्व, कोलाहल, विवाद, अविश्वास तथा ईर्ष्या-द्वेष द्वारा समय-समय पर इस तरह की वज्र-गम्भीर वाणी निकली है, जिसने सम्पूर्ण कोलाहल को दबाकर संसार में शान्ति तथा मेल की तीव्र घोषणा कर दी थी। सुमेरु पर्वत से कुमेरु पर्वत तक उसके वज्र-गम्भीर आह्वान को सुनने के लिए मनुष्य जाति बाध्य हुई है। क्या संसार में किसी समय इस समन्वय का राज्य स्थापित हो सकेगा ?

धर्म-राज्य के इस प्रबल वाद-विवाद के बीच क्या कभी एक अविच्छिन्न मिलन-सूत्र का होना सम्भव है ? वर्त्तमान शताब्दी के अन्त में इस मिलन-समस्या को लेकर संसार में एक विवाद चल पड़ा है। इस संसार को पूर्ण करने के लिए समाज में कई प्रकार के उपाय सोचे जा रहे हैं तथा उन्हें कार्य रूप में परिणत करने के लिए अनेक प्रकार के प्रयत्न किए जारहे हैं। हम सब लोग यह जानते हैं कि यह कितना कठिन कार्य है। जीवन संग्राम की भीषणता की बात को जाने दीजिए, मनुष्य के मन में जो प्रबल स्नायविक उत्तेजना रहती है, उसे कम करना भी मनुष्य एक तरह से असम्भव समझता है। जीवन का जो स्थूल तथा वाह्य अंश मात्र है, उस वाह्य जगत में साम्य तथा शान्ति स्थापित करना यदि इतना कठिन है, तो मनुष्य के अन्तर्जगत् में शान्ति एवं साम्य स्थापित करना उससे सहस्र गुना कठिन

है । आप लोगों को कुछ समय के लिए वाक्य-जाल से बाहर आना पड़ेगा । हम सब लोग बचपन से ही प्रेम, शान्ति, मैत्री, साम्य, सार्वजनीन भ्रातृभाव आदि अनेक बातें सुनते आरहे हैं; परन्तु इन सभी बातों से कितनी ही हमारे निकट निरर्थक हो जाती हैं । हम लोग उन्हें तोते की भाँति रट लेते हैं तथा वे जैसे हम लोगों का स्वभाव बन गई हैं । हम ऐसा किए बिना रह ही नहीं सकते । जिन सब महा-पुरुषों ने अपने हृदय में सर्वप्रथम इस महान् तत्त्व की उप-लब्धि की, उन्हीं ने इन वाक्यों की रचना भी की है । उस समय बहुत से लोग इसका अर्थ समझते थे । अन्य मूर्ख लोग इन बातों को लेकर बच्चों जैसा खिलवाड़ करते हैं । अन्त में, धर्म को केवल बातों की बहस बना दिया जाता है—वे लोग इस बात को भूल गए हैं कि धर्म जीवन में परिणत करने की वस्तु है । अब धर्म पैतृक-धर्म, जातीय-धर्म, देशीय-धर्म आदि के रूप में बदल गया है । अन्त में, वह स्वदेश-हितैषिता का एक अंग हो जाता है तथा स्वदेश हितैषिता सदैव एक देशीय होती है । भिन्न-भिन्न धर्मों में सामञ्जस्य का विधान करना अत्यन्त ही कठिन कार्य है । फिर भी, हम इस धर्म समन्वय समस्या की आलोचना करेंगे ।

हम यह देखते हैं कि प्रत्येक धर्म के तीन भाग होते हैं । मैं प्रसिद्ध तथा प्रचलित धर्मों की बात ही कह रहा हूँ । पहला भाग है—दार्शनिक, इसमें उस धर्म का सम्पूर्ण विषय अर्थात मूल तत्त्व, उद्देश्य तथा लाभ के उपाय निहित रहते हैं । दूसरा भाग है पौराणिक । यह स्थूल उदाहरणों द्वारा दार्शनिक-भाग को स्पष्ट करता है । इसमें मनुष्यों तथा प्राकृतिक पुरुषों के जीवन-सम्बन्धी उपाख्यान आदि लिखे

हुए हैं। इसमें सूक्ष्म दार्शनिक तत्त्व, मनुष्यों अथवा अति-प्राकृतिक पुरुषों के थोड़े-बहुत काल्पनिक जीवन के उदाहरणों द्वारा समझाए गए हैं। तीसरा भाग है—आनुष्ठानिक यह धर्म का स्थूल भाग है। इसमें पूजा-पद्धति, आचार, अनुष्ठान, शारीरिक विविध अङ्ग विन्यास, पुष्प, धूप, धूनी आदि अनेक प्रकार की इन्द्रिय-ग्राह्य वस्तुऐं हैं। इन सबको मिलाकर आनुष्ठानिक धर्म का सङ्गठन होता है। आप देख सकते हैं कि सभी प्रसिद्ध धर्मों के ये तीन ही विभाग हैं। कोई धर्म दार्शनिक भाग पर अधिक बल देता है और कोई अन्य भागों पर। पहले दार्शनिक भाग की बात लेनी चाहिए, प्रश्न उठता है—कोई सार्वजनिक दर्शन है अथवा नहीं? अभी तक तो नहीं है। प्रत्येक धर्म वाले अपने मतों की व्याख्या करके उसी को एकमात्र सत्य कहकर, उसमें विश्वास करने के लिए हट करते हैं। केवल इतना ही करके शान्त नहीं होते, अपितु वे धर्मावलम्बी यह समझते हैं कि जो लोग उनके मत में विश्वास नहीं करते, वे किसी भयानक-स्थान में जाऐंगे। कोई-कोई तो दूसरों को अपने मत में लाने के लिए तलवार तक का उपयोग करते हैं। वे ऐसा किसी दुष्टता के वशीभूत होकर करते हों, सो बात नहीं है। मानव मस्तिष्क से निकली हुई धर्मिक-कट्टरता नामक व्याधि विशेष की प्रेरणा से ही वे ऐसा करते हैं। ये धर्मिक कट्टर सर्वथा कपटहीन होते हैं, मनुष्यों में सबसे अधिक कपटहीन होते हैं; परन्तु संसार के अन्य पागलों की भाँति उन्हें भी उचित और अनुचित का ज्ञान नहीं होता। यह धार्मिक-कट्टरता एक भयानक बीमारी है। मनुष्यों में जितनी दुष्ट बुद्धि है, वह सभी धार्मिक-कट्टरता द्वारा जाग्रत की गई है। उसके

कारण क्रोध आ जाता है, स्नायु-समूह अत्यन्त चंचल हो जाता है तथा मनुष्य सिंह की भाँति हिंस्र पशु बन जाता है।

भिन्न-भिन्न धर्मों के पुराणों में क्या कोई समानता अथवा ऐक्य है ? क्या ऐसा कोई सार्वभौमिक पौराणिक तत्त्व है, जिसे सभी धर्म वाले ग्रहण कर सकें ? अवश्य ही नहीं है । सभी धर्मों वालों का अपना-अपना पुराण है, परन्तु सभी यह कहते हैं कि केवल हमारी पुराणोक्त कथाऐं ही उपकथा मात्र नहीं है । इस बात को मैं उदाहरण द्वारा समझाने का प्रयत्न करता हूँ । मेरा उद्देश्य—मेरी कही हुई बातों को उदाहरण के द्वारा समझाना मात्र है । किसी धर्म की समालोचना करना नहीं । ईसाई यह विश्वास करते है कि ईश्वर एक तरह के कबूतर का रूप धारण करके पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए थे । उनके निकट यह ऐतिहासिक सत्य है,—पौराणिक कहानी नहीं । हिन्दू लोग गाय को भगवती के आविर्भाव के रूप में मानते हैं । ईसाई कहता है कि इस तरह के विश्वास का कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है, यह केवल पौराणिक कहानी तथा कुसंस्कार मात्र है । यहूदी समझते हैं यदि एक सन्दूक के दो किनारों पर दो देवदूतों की मूर्त्तियाँ स्थापित की जाँय, तब उसे मन्दिर के सबसे भीतरी, बहुत छिपे हुए तथा अत्यन्त पवित्र स्थान में स्थापित किया जा सकता है—वह जिहोवा की दृष्टि से परम पवित्र होगा; परन्तु यदि किसी सुन्दर स्त्री अथवा पुरुष की मूर्ति होगी, तो कहेंगे—"यह एक वीभत्स गुड़िया मात्र है, इसे तोड़ डालो ।" पौराणिक भाव से तो हम इसी तरह मिलेंगे । यदि कोई खड़ा होकर यह कहे—"हमारे अवतारों ने इन आश्चर्यजनक कार्यों को किया है," तो दूसरे लोग

कहेंगे—"यह केवल कुसंस्कार मात्र है।" परन्तु उसी समय वे लोग कहेंगे कि "हमारे अवतारों ने उसकी अपेक्षा और भी अधिक आश्चर्यजनक कार्य किए हैं। तथा उन्हें वे ऐतिहासिक सत्य समझने का दावा करते हैं। मैंने जहाँ तक देखा है, इस पृथ्वी पर ऐसा कोई नहीं है, जो इन सब मनुष्यों के मस्तिष्क में रहने वाले इतिहास तथा पुराण के सूक्ष्म प्रार्थक्य को पकड़ सके। इस तरह की कहानियाँ—वे चाहे किसी भी धर्म की क्यों न हों—सर्वथा पौराणिक होने पर भी कभी-कभी उनमें भी एक तरह का ऐतिहासिक सत्य हो सकता है।

इसके पश्चात् आनुष्ठानिक भाग आता है। सम्प्रदाय-विशेष की विशेष प्रकार की अनुष्ठान-पद्धति होती है तथा उस सम्प्रदाय के अनुयायी उसी को धर्म-संगत समझकर विश्वास करते हैं एवं अन्य सम्प्रदायों की अनुष्ठान-पद्धति को घोर कुसंस्कार मानते हैं। यदि एक सम्प्रदाय किसी विशेष प्रकार की प्रतिमा की उपासना करता है, तो अन्य सम्प्रदाय वाले कहने लगते हैं—"ओह, कैसी भयङ्करता है।" एक साधारण मूर्ति-पूजा की बात को ही लीजिए। लिंगोपासना में व्यवहृत होने वाली मूर्ति निश्चय ही पुरुष-चिह्न है, परन्तु क्रमशः उसे इस ओर के लोग भूल गए हैं तथा उसका इस समय ईश्वर के स्रष्टा भाव की मूर्त्ति के रूप में ग्रहण होता है। जिन जातियों ने उसे मूर्त्ति के रूप से ग्रहण किया है, वे कभी भी उसे पुरुष-चिह्न नहीं समझतीं। वह भी अन्य मूर्त्तियों की भाँति एक मूर्त्ति है, इतना ही जानती हैं। परन्तु अन्य जाति अथवा सम्प्रदाय का कोई मनुष्य उसे पुरुष-चिह्न के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं समझता, इसीलिए वह उसकी

निन्दा करना आरम्भ करता है तथा जब वह इस तरह की निन्दा करता है, उस समय वह लिंगोपासना की वीभत्सता को अपने नेत्रों के समक्ष प्रत्यक्ष देखता है। उदाहरण के लिए, लिंगोपासना तथा सैक्रेमैन्ट (Sacrament) नामक ईसाई-धर्म के अनुष्ठान-विशेष की बात कही जा सकती है। ईसाइयों के लिए लिंगोपासना में व्यवहार की जाने वाली मूर्त्ति अत्यन्त कुत्सित है तथा हिन्दुओं के लिए ईसाइयों का सैक्रेमैन्ट वीभत्स है। हिन्दू कहते हैं कि किसी मनुष्य के सद्गुणों को पाने के अभिप्राय से उसकी हत्या करके उसके मांस को खाना तथा रक्त को पीना, पैशाचिक नृशंसता है। कोई-कोई जंगली-जातियाँ भी ऐसा ही करतीं हैं। यदि कोई व्यक्ति अत्यन्त साहसी होता है तो वे लोग उसकी हत्या करके उसके हृदय को खाते हैं, क्योंकि वे यह समझते हैं कि उसके द्वारा उन्हें उस व्यक्ति का साहस तथा वीरत्व आदि गुण प्राप्त होगा। सरजॉन लबक की भाँति के भक्त ईसाई भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि जंगली-जातियों के रिवाज़ के आधार पर ही ईसाइयों के इस अनुष्ठान की रचना हुई है। अन्य ईसाई अवश्य ही इस अनुष्ठान की उत्पत्ति के सम्बन्ध में इस मत को स्वीकार नहीं करते तथा उसके द्वारा इस तरह के भाव का आभास भी मिलता है, इसे भी वे नहीं समझ पाते। वह एक पवित्र वस्तु की मूर्त्ति है, केवल वे इतना ही जानना चाहते हैं। इसलिए आनुष्ठानिक-भाग में भी इस तरह की कोई साधारण-मूर्त्ति नहीं है, जिसे सब धर्म वाले स्वीकार तथा ग्रहण कर सकें। ऐसा होने से धर्म के सम्बन्ध में सबका सार्वभौमिकत्व कहाँ है ? सार्वभौमिक धर्म किस तरह सम्भव है ? सत्य है, परन्तु वह तो पहले से ही विद्यमान

है । अब देखा जाय कि क्या होता है !

हम सभी लोग सार्वजनीन भ्रातृभाव की बात सुनते हैं तथा भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय के लोगों में उसके प्रचार के लिए कितना उत्साह है, इसे देखते हैं' ।

मुझे एक पुरानी कहानी याद आती है । भारतवर्ष में शराब पीना बहुत ही निन्दनीय समझा जाता है । दो भाई थे, उन्होंने रात के समय छिपकर शराब पीने का विचार किया । बगल के कमरे में उनके चाचा सोए हुए थे, जो अत्यन्त निष्ठावान् व्यक्ति थे । अतः शराब पीने से पहले वे दोनों परस्पर सलाह करने लगे कि हम लोगों को खूब चुपचाप शराब पीनी होगी, अन्यथा चाचा जग जाएंगे । शराब पीने के पहले वे लोग बार-बार "चुप, चुप, जग जाएंगे" की आवाज करते हुए एक-दूसरे को चुप करने लगे । इस शोर-गुल की गड़बड़ी में चाचा की नींद खुल गई । उन्होंने कमरे में घुस कर सब कुछ देख लिया । हम लोग भी ठीक उन्हीं मतवालों की भाँति सार्वजनीन भ्रातृ-भाव का शोर करते हैं । हम सभी लोग समान हैं, अतः हम लोग एक दल का संगठन करें । परन्तु ध्यान रहे, ज्यों ही आप लोगों ने किसी दल का संगठन किया, त्योंही अपने साम्य के विरोधी बन गए तथा उसी समय 'साम्य' नामक कोई वस्तु आपके पास न रही । मुसलमान लोग सार्वजनीन भ्रातृभाव का शोर मचाते हैं, परन्तु वास्तविक भ्रातृभाव से कितने दूर हैं ? जो मुसलमान नहीं हैं, वे उनके भ्रातृसंघ में सम्मिलित नहीं किए जाएँगे, उनके तो कंठ काटे जाने की ही अधिक सम्भावना है । ईसाई लोग भी सार्वजनीन भ्रातृभाव की बातें करते हैं, परन्तु जो ईसाई

नहीं हैं, उसके लिए अनन्त नरक का द्वार खुला हुआ है ।

इस तरह लोग सार्वजनीन भ्रातृभाव तथा साम्य की खोज में समस्त पृथ्वी पर घूमते फिरते हैं। आप लोग कहीं भी जिस समय इस भाव की बातें सुनें, उसी समय मेरा यह अनुरोध है कि आप थोड़ा धैर्य धारण करें तथा सतर्क हो जाँय, क्योंकि इन सब बातों के भीतर प्रायः घोर स्वार्थ-परता छिपी रहती है । कहावत प्रसिद्ध है—"जो गरजता है, सो बरसता नहीं है ।" इसी तरह जो लोग यथार्थकर्मी हैं तथा अपने हृदय में सबके प्रति वास्तविक प्रेम का अनुभव करते हैं, वे लम्बी-चौड़ी बातें नहीं करते, परन्तु उनके क्रियाकलाप, गतिविधि तथा समस्त जीवन के ऊपर ध्यान देने से यह स्पष्ट समझमें आ जाएगा कि उनके हृदय वास्तव में मानव जाति के प्रेम से परिपूर्ण हैं तथा वे सब से प्रेम करते हैं और सबके दुःख से दुखी होते हैं । वे केवल बातें ही नहीं बनाते, अपितु काम करके दिखाते हैं—वे आदर्श के अनुसार ही जीवन भी व्यतीत करते हैं । सम्पूर्ण संसार की लम्बी-चौड़ी बातों की मात्रा इतनी अधिक है कि यह समस्त पृथ्वी उसके नीचे दब जाय । हम यह चाहते हैं कि बातें बनाना कुछ कम होकर, यथार्थ काम कुछ अधिक हो ।

अभी तक लोगों ने यह देखा है कि धर्म के सम्बन्ध में किसी सार्वभौमिक भाव को ढूँढ़ निकालना तनिक टेढ़ी खीर है । फिर भी, हम यह जानते हैं कि ऐसे भाव वर्त्तमान हैं । हम सभी मनुष्य तो अवश्य हैं, परन्तु क्या सभी समान भी हैं ? निश्चय ही नहीं । कौन कहता है कि हम सब समान हैं ? एक व्यक्ति दूसरे की अपेक्षा अधिक बलवान् है, एक मनुष्य की बुद्धि दूसरे की अपेक्षा अधिक है ।

यदि हम सब लोग समान होते, तो यह असमानता कैसी ? इस असमानता को किसने उत्पन्न किया ? स्वयं हम लोगों ने ही इसे उत्पन्न किया है । हम लोगों में क्षमता, विद्या, बुद्धि तथा शारीरिक बल का तारतम्य होने के कारण अवश्य ही पार्थक्य है । इस पर भी हम लोग यह जानते हैं कि इस साम्यवाद ने हम लोगों के हृदय को छू लिया है । हम सब लोग मनुष्य अवश्य हैं, परन्तु हम लोगों में से कितने ही पुरुष तथा कितनी स्त्रियाँ हैं । कोई काले हैं और कोई गोरे—परन्तु सभी मनुष्य हैं, सभी एक मनुष्य जाति के अन्तर्गत हैं । हम लोगों का चेहरा भी कई प्रकार है । हम दो मनुष्यों का मुँह ठीक एक जैसा नहीं देख सकते, फिर भी हम सब मनुष्य हैं । मनुष्यत्वरूपी साधारण वस्तु कहाँ है ? मैंने जिस किसी काले अथवा गोरे स्त्री अथवा पुरुष को देखा, उन सबके मुँह पर एक ही मनुष्यत्व का भाव विद्यमान है । मैं जिस समय उसे पकड़ने का प्रयत्न करता हूँ, उसे इन्द्रियगोचर करना चाहता हूँ, उसे बाहर प्रत्यक्ष करना चाहता हूँ, उस समय उसे देख भी नहीं सकता; परन्तु यदि हमें किसी वस्तु के सम्बन्ध में निश्चित ज्ञान हो, तो हममें मनुष्यत्वरूपी जो साधारण भाव है, वही वह वस्तु है । पहले मनुष्तत्व का साधारण ज्ञान होने दो, इसके पश्चात् मैं आप लोगों को स्त्री तथा पुरुष का ज्ञान करा सकूँगा । सार्वजनीन धर्म के सम्बन्ध में भी यही बात है । यह ईश्वर रूप से पृथ्वी के सभी भिन्न-भिन्न धर्मों में विद्यमान हैं । यह अनन्त काल से वर्त्तमान है तथा अनन्त काल तक रहेगा । भगवान ने कहा है—"मयिसर्वमिदं प्रोतं ।" मैं इस संसार में मणियों के भीतर सूत्र की तरह वर्त्तमान हूँ—इस एक मणि

को एक विशेष धर्म, मत अथवा सम्प्रदाय कहा जा सकता है। अलग-अलग मणियाँ एक-एक धर्म हैं तथा प्रभु ही सूत्र रूप से उन सबमें वर्त्तमान हैं। इतने पर भी अधिकांश व्यक्ति इस सम्बन्ध में सर्वथा अज्ञ हैं।

बहुत्व के बीच एकत्व का होना सृष्टि का नियम है। हम सब लोग मनुष्य होते हुए भी एक-दूसरे से अलग हैं। मनुष्य जाति के अंश के हिसाब से हम और आप एक हैं, परन्तु जब हम व्यक्ति विशेष होते हैं, तब हम आपसे अलग होते हैं। पुरुष होने के कारण आप स्त्री से भिन्न हैं, परन्तु मनुष्य होने के कारण स्त्री तथा पुरुष एक ही हैं। मनुष्य होने के कारण आप जीव-जन्तु से अलग हैं, परन्तु प्राणी होने के नाते स्त्री-पुरुष, जीव-जन्तु तथा उद्भिज सभी समान हैं एवं सत्ता के नाते, आपका इस विराट् विश्व के साथ एकत्व है। ईश्वर ही वह विराट् सत्ता है—वे इस विचित्रतामय संसार-प्रपंच के चरम एकत्व हैं। उनके साथ हम सभी लोग एक हैं, परन्तु व्यक्त प्रपंच के बीच में यह भेद चिर-काल तक अवश्य विद्यमान रहेगा। हमारे प्रत्येक बाहरी कार्य तथा चेष्टा में यह भेद सदैव ही विद्यमान रहेगा। अतः सार्व-जनीन धर्म का यदि यह अर्थ हो कि भिन्न-भिन्न विशेष-मतों में संसार के सभी लोग विश्वास करें, तो यह असम्भव है। ऐसा कभी नहीं हो सकता। ऐसा समय कभी नहीं आएगा, जब संसार के सब लोगों का मुँह एक रंग का हो जाय और यदि हम यह आशा करें कि सम्पूर्ण संसार एक ही पौराणिक-तत्त्व में विश्वास करेगा, तो यह भी असम्भव है। ऐसा कभी नहीं हो सकता। तीसरे, सम्पूर्ण संसार में एक प्रकार की अनुष्ठान-पद्धति कभी भी प्रचलित नहीं हो सकती। इस तरह का काम किसी भी समय नहीं हो सकता। यदि

कभी हो भी जाय, तो सृष्टि का लोप हो जाएगा। कारण, विचित्रता ही जीवन की मूल भित्ति है। हम लोगों का आकार किसने बनाया है ?—विषमता ने। सम्पूर्ण साम्य-भाव होते ही हमारा विनाश अवश्यम्भावी है। समान परिणाम तथा सम्पूर्ण भाव से विकीर्ण होना ही उत्ताप का धर्म है। मानलीजिए, इस घर का सम्पूर्ण उत्ताप उस प्रकार वीकीर्ण हो जाय, तो ऐसा होने पर कार्यतः वहाँ उत्ताप नामक कोई वस्तु शेष न रहेगी। इस संसार की गति किसके लिए सम्भव होती है ? इसका कारण समताच्युति है। जिस समय यह संसार ध्वंस होगा, उसी समय चरमसाम्य आ सकेगा, अन्यथा ऐसा होना असम्भव ही है। केवल इतना ही नहीं, ऐसा होना विपत्तिजनक भी है। हम सभी लोग एक ही तरह की चिन्ता करेंगे, ऐसा सोचना भी उचित नहीं है। ऐसा होने से चिन्ता करने की कोई वस्तु ही नहीं रह जाएगी। अजायबघर में रक्खी हुई मिश्र देश की ममियों (Mummies) की भाँति हम सभी लोग एक तरह के हो जाएंगे तथा एक-दूसरे को देखते रहेंगे। हमारे मन में कोई भाव ही नहीं उठेगा। पार्थक्य, यही वैषम्य, हममें परस्पर असाम्यभाव हमारी उन्नति का प्राण—हमारे समस्त भावों का स्रष्टा है। यह वैचित्र्य सदैव ही बना रहेगा।

सार्वभौमिक धर्म का अर्थ तब मैं क्या समझता हूँ ? कोई सार्वभौमिक दार्शनिक तत्त्व, कोई सार्वभौमिक पौराणिक तत्त्व अथवा कोई सार्वभौमिक आचार पद्धति, जिसका निरूपण मानकर सबको चलना पड़ेगा—मेरा अभिप्राय नहीं है। क्योंकि, मैं यह जानता हूँ कि भाँति-भाँति के चक्र समवायों से गठित, अत्यन्त जटिल तथा आश्चर्यजनक इस विश्व रूप

का जो दुर्बोध तथा विशाल यंत्र है, वह सदैव चलता ही रहेगा। फिर हम लोग क्या कर सकते हैं? हम इस यन्त्र को भलीभाँति चला सकते हैं, इसका घर्षण-वेग कम कर सकते हैं—इसके चक्रों को चमकीला रख सकते हैं। वह किस प्रकार? वैषम्य के प्रयोजन को स्वीकार करते हुए। जिस प्रकार हम सबने स्वाभाविक रूप से एकत्व को स्वीकार किया है, उसी तरह हमें वैषम्य भी स्वीकार करना होगा। हमें यह शिक्षा लेनी होगी कि एक ही सत्य का प्रकाश लाखों तरह से होता है और प्रत्येक भाव ही अपनी निर्दिष्ट-सीमा के भीतर प्रकृत सत्य है—हमें यह सीखना होगा कि किसी भी विषय को सैकड़ों तरह की भिन्न-भिन्न दृष्टि से देखने पर भी वह एक ही वस्तु रहता है। उदाहरण के लिए सूर्य को लीजिए! यह मानलीजिए कि कोई मनुष्य पृथ्वी पर खड़ा हुआ सूर्योदय को देख रह है, पहले उसे गोलाकार वस्तु दिखाई पड़ेगी। अब मानलीजिए, उसने एक कैमरा लेकर सूर्य की ओर यात्रा की तथा जबतक वह सूर्य के निकट नहीं पहुँचा, तबतक वह बार-बार सूर्य के चित्र खींचने लगा। एक स्थान से लिया हुआ सूर्य का एक चित्र, दूसरे स्थान से लिए सूर्य के दूसरे चित्र से भिन्न है। जब वह लौट आएगा, तब उसे यह ज्ञात होगा कि जैसे वे सब चित्र भिन्न-भिन्न सूर्यों के चित्र हैं। परन्तु हम यह जानते हैं कि वह अपने गन्तव्य मार्ग के भिन्न-भिन्न स्थानों से एक ही सूर्य के अनेक चित्र लेकर लौटा है। ईश्वर के सम्बन्ध में भी ठीक ऐसा ही होता है। उच्च अथवा निकृष्ट दर्शन से हो—सूक्ष्म अथवा स्थूल पौराणिक-कथाओं के अनुसार ही हो अथवा सुसंस्कृत क्रियाकांड अथवा भूतोपासना के द्वारा हो—प्रत्येक सम्प्रदाय,

प्रत्येक धर्म, प्रत्येक व्यक्ति तथा प्रत्येक जाति ज्ञान अथवा अज्ञान में अग्रसर होने का प्रयत्न करती हुई, ईश्वर की ओर ही बढ़ रही है। मनुष्य चाहे जितने प्रकार के सत्य की उपलब्धि करे, उसका प्रत्येक सत्य ईश्वर दर्शन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। मानलीजिए, हम जल-पात्र लेकर जलाशय से जल भरने के लिए आए—कोई कटोरी लाया, कोई घड़ा लाया और बाल्टी लाया, आदि। अब जब हमने पानी भर लिया तो यह देखते हैं कि प्रत्येक पात्र के जल ने स्वभावतः अपने-अपने पात्र का आकार धारण कर लिया। परन्तु प्रत्येक पात्र में वही एक पानी है, जो सबके पास है। धर्म के सम्बन्ध में भी ऐसा ही कहा जा सकता है। हमारे मन भी ठीक उक्त पात्रों के समान ही हैं। हम सब ईश्वरप्राप्ति का प्रयत्न कर रहे हैं। पात्रों में जो पानी भरा हुआ, ईश्वर उसी पानी के समान है—प्रत्येक पात्र में, उस पात्र के आकार के अनुसार ईश्वर का दर्शन है। फिर भी वह सब जगह एक ही है—वह घट-घट में विराजमान है। सार्वभौमिक भाव का भी हम यही एकमात्र परिचय प्राप्त कर सकते हैं।

मतवाद की दृष्टि से तो यह ठीक है। परन्तु धर्म के सामञ्जस्य-विधान को कार्य रूप में परिणत करने का भी कोई उपाय है क्या ? हम देखते हैं—"सब धर्ममत ही सत्य है।" यह बात बहुत पुराने समय से ही मनुष्य स्वीकार करते आए हैं। भारतवर्ष, अलैकजैण्ड्रिया, यूरोप, चीन, जापान, तिब्बत यहाँ तक कि अमेरिका आदि स्थानों में भी सर्ववादी सम्मत एक धर्ममत को गठन करने के लिए, सब धर्मों को एक ही प्रेम सूत्र में बाँधने के सैकड़ों प्रयत्न हो चुके हैं, परन्तु वे सब व्यर्थ हुए हैं, क्योंकि, उन्होंने किसी कार्यकारी प्रणाली

का अवलम्बन नहीं लिया। 'संसार के सब धर्म ही सत्य हैं'—इसे तो अनेकों ने स्वीकार किया है, परन्तु उन सब को एकत्र करने का उन्होंने ऐसा उपाय नहीं दिखाया, जिससे वे सब इस समन्वय के भीतर रहते हुए अपनी स्वतंत्रता की रक्षा कर सकें। वही उपाय वास्तव में कार्यकारी हो सकता है, जो व्यक्तिगत धर्म-मत की स्वतंत्रता को नष्ट न करते हुए, उसे औरों के साथ मिश्रित होने का मार्ग बतलादे। परन्तु अब तक जिन-जिन उपायों द्वारा धर्म-जगत् में एकता का विधान करने का प्रयत्न किया गया है, उनसे 'सभी धर्म सत्य हैं;' यह सिद्धान्त मान लेने पर भी पता चलेगा कि वास्तव में तो उसे कुछ निर्दिष्ट मत विशेषों में आवद्ध रखने का प्रयत्न ही किया गया है तथा फल स्वरूप कितने ही परस्पर झगड़ने वाले नए-नए दलों की सृष्टि होगई है।

मेरी भी एक छोटी-सी कार्य-प्रणाली है। मैं नहीं जानता कि वह कार्यकारी होगी अथवा नहीं, परन्तु मैं उसे आपके समक्ष विचार करने के लिए रखता हूँ। मेरी कार्य-प्रणाली क्या है? सबसे पहले मैं मनुष्य-जाति से यह मान लेने का अनुरोध करता हूँ कि कुछ नष्ट मत करो। विनाशक अथवा सुधारक-लोग संसार का कुछ भी उपकार नहीं कर सकते। किसी वस्तु को भी तोड़कर उसे धूलि में मत मिलाओ। अपितु उसका गठन करो। यदि हो सको तो सहायता करो, अन्यथा चुपचाप हाथ उठाकर खड़े हो जाओ और यह देखो कि मामला कहाँ तक जाता है। यदि सहायता न कर सको तो अनिष्ट भी मत करो। जबतक मनुष्य कपट-हीन रहे, तबतक उसके विश्वास के विरोध में एक भी शब्द मत कहो। दूसरी बात यह है कि जो जहाँ पर है, उसे वहाँ

से ऊपर उठाने का प्रयत्न करो। यदि यह सत्य है कि ईश्वर सबके धर्मों के केन्द्र स्वरूप हैं तथा हममें से प्रत्येक एक-एक व्यासार्द्ध से उनकी ओर आगे बढ़ रहा है, तो हम सब अवश्य ही उस केन्द्र में जा पहुँचेगे तथा सब व्यापारों के उस मिलन-स्थल में हमारे सभी वैषम्य दूर हो जाएंगे परन्तु जबतक हम वहाँ नहीं पहुँचते, तब तक वैषम्य कदापि दूर नहीं हो सकता। सब व्यासार्द्ध एक ही केन्द्र में सम्मिलित होते हैं। कोई अपने स्वभाव के अनुसार एक व्यासार्द्ध से आगे बढ़ता है और कोई दूसरे व्यासार्द्ध से। इसी प्रकार हम सब अपने-अपने व्यासार्द्ध द्वारा आगे बढ़ें तो अवश्य ही हम एक ही केन्द्र में जा पहुँचेगे। कहावत भी ऐसी है कि "सभी मार्ग रोम मैं पहुँचते हैं।" प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार आगे बढ़ रहा है तथा पुष्ट हो रहा है। प्रत्येक व्यक्ति समय के प्रभाव से चरम-सत्य की उपलब्धि करेगा, क्योंकि अन्त में यह देखा जाता है कि मनुष्य स्वयं ही अपना शिक्षक है। तुम क्या कर सकते हो और मैं क्या कर सकता हूँ ? क्या तुम यह समझते हो कि तुम एक शिशु को भी कुछ सिखा सकते हो ? नहीं, तुम नही सिखा सकते। शिशु स्वयं ही शिक्षा प्राप्त करता है। तुम्हारा कर्त्तव्य है—उसे सुयोग देना और बाधा दूर करना। एक वृक्ष बढ़ रहा है, क्या तुम उस वृक्ष को बढ़ा सकते हो ? नहीं। तुम्हारा कर्त्तव्य है उस वृक्ष के चारों ओर घेरा बना देना, ताकि कोई पशु उस वृक्ष को चर न डाले इत्यादि। बस यहीं पर तुम्हारे कर्त्तव्य का अन्त होगया। वृक्ष स्वयं ही बढ़ता है मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति का रूप भी ठीक ऐसा ही है। न कोई तुम्हें शिक्षा दे सकता है और न कोई तुम्हारी आध्यात्मिक-उन्नति ही कर

सकता है। तुम्हें स्वयं ही शिक्षा लेनी होगी—तुम्हारी उन्नति तुम्हारे भीतर से ही होगी।

बाहरी शिक्षा देने वाले क्या कर सकते हैं ? वे ज्ञान प्राप्ति की बाधाओं को थोड़ा दूर कर सकते हैं, वहीं पर उनका कर्त्तव्य समाप्त हो जाता है। इसलिए यदि हो सके तो सहायता करो अन्यथा विनाश मत करो। तुम इस धारणा का त्याग करदो कि तुम किसी को आध्यात्मिक-शक्ति-सम्पन्न कर सकते हो। यह असम्भव है। यह स्वीकार करो कि तुम्हारी आत्मा के अतिरिक्त तुम्हारा अन्य कोई शिक्षक नहीं है। फिर देखो कि इसका क्या फल होता है ! हम समाज में भिन्न-भिन्न प्रकार के लोगों को देखते हैं। संसार में सहस्रों प्रकार के मन तथा संस्कार वाले लोग वर्त्तमान हैं - उन सबका सम्पूर्ण सामान्यकरण (Gereralisation) असम्भव है, परन्तु तबतक हमारी सुविधा के लिए उन्हें चार श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। पहले हैं—कर्मठ व्यक्ति जो कमच्छुक हैं, उनकी स्नायु-मंडली तथा मांस-पेशियों में विपुल शक्ति है। उनका उद्देश्य है—काम करना, अस्पताल तैयार करना, शुभ कार्य करना, मार्ग बनाना, कार्य-प्रणाली को स्थित करके संघवृद्ध होना। दूसरे हैं—भावुक। जो चिन्ता करते हैं, जो उस महान सुन्दर को सर्वान्तःकरण से प्रेम करते हैं। वे प्रकृति के मनोरम दृष्यों का उपभोग करने के लिए सौन्दर्य की चिन्ता करते हैं तथा प्रेममय ईश्वर की पूजा करने के लिए प्रेम करते हैं। वे संसार के समस्त महापुरुषों तथा ईश्वर के अवतारों पर विश्वास रखते हुए, उन सबकी हृदय से पूजा करते हैं, उन सबसे प्रेम करते हैं। क्राइस्ट तथा बुद्ध वास्तव में के या नहीं, इसके

प्रमाणों की वे चिन्ता ही नहीं करते ।"ईसामसीह का दिया हुआ 'पर्वत पर का उपदेश' कब प्रचारित हुआ था अथवा श्रीकृष्ण ने किस तारीख को जन्म लिया था ?"—इसकी उन्हें चिन्ता नहीं रहती । उनके निकट तो उनका व्यक्तित्व, उनकी मनोहर मूर्तियाँ ही सबसे बड़े आदर्श हैं । यही भावुकों का आदर्श है, यही उनका स्वभाव है । तीसरे हैं—योगमार्गी वे अपना विश्लेषण करने तथा मनुष्य के मन की क्रियाओं को जानने के लिए कि "वहाँ कौन-कौन शक्ति कार्य कर रही हैं तथा उन शक्तियों को पहिचानने अथवा उन्हें परिचालित करने अथवा उन्हें वशीभूत करने का क्या उपाय है ?"—यही सब जानने को उत्सुक रहते हैं । चौथे हैं—दार्शनिक । वे प्रत्येक विषय का भाव जान लेना चाहते हैं तथा अपनी बुद्धि से मानवीय-दर्शन द्वारा जहाँ तक जाना सम्भव है, उससे भी अधिक दूर तक जाने की इच्छा रखते हैं ।

अब बात यह है कि यदि किसी धर्म को सबकी अपेक्षा अधिक उपयोगी होना हो तो उसमें इतनी क्षमता होनी आवश्यक है कि वह उन सब भिन्न-भिन्न लोगों के लिए उपयुक्त-सामग्री एकत्र करे तथा जिस धर्म में इस क्षमता का अभाव है, उस धर्म के अन्तर्गत जो सम्प्रदाय हैं ,वे सब एकदेशीय ही रह जाते हैं । मानलीजिए, आप किसी भक्त-सम्प्रदाय के पास गए । वे गाते हैं, रोते हैं तथा भक्ति का प्रचार करते हैं; परन्तु यदि आपने उनसे यह कहा कि "मित्र ! आप जो कहते हैं, वह ठीक ही है, परन्तु मैं इससे भी कुछ अधिक की आशा रखता हूँ, मैं कुछ युक्ति-तर्क, कुछ दर्शनात्मक-आलोचना तथा विचार पूर्वक इन विषयों को थोड़ा समझना चाहता हूँ"—तो वे आपको

तुरन्त बाहर निकाल देंगे, और केवल इतना ही नहीं कि वे आपसे बाहर चले जाने के लिए ही कहें, अपितु यदि उनसे हो सका तो वे आपको एकदम भव-सागर के पार ही भेज देंगे। अब इससे यह परिणाम निकलता है कि वह सम्प्रदाय केवल भाव-परायण लोगों की ही सहायता कर सकता है। वे लोग दूसरों की सहायता तो कर ही नहीं सकते, बल्कि वे उन्हें विनष्ट करने का भी प्रयत्न करते हैं और सहायता की बात तो अलग रही, वे दूसरों की निष्कपटता पर भी विश्वास नहीं करते। यह सबसे भयानक बात है।

अब एक सम्प्रदाय और है—वह है ज्ञानी। वे भारत तथा प्राच्य के ज्ञान की प्रशंसा करते हैं तथा खूब लम्बे-चौड़े पारिभाषिक शब्दों का व्यवहार करते हैं। परन्तु यदि मेरे जैसा कोई साधारण व्यक्ति उनके समीप पहुँचकर यह कहे कि "क्या आप मुझे कुछ आध्यात्मिक उपदेश दे सकते हैं ?" तो वे कुछ मुस्कुराते हुए यही उत्तर देंगे—"अजी, अभी तो तुम्हारी बुद्धि की वृत्तियाँ ही साफ नहीं हुई हैं, तब तुम आध्यात्मिकता को क्या समझ सकोगे ?" वे लोग बड़ी ऊँची श्रेणी के दार्शनिक हैं। वे तुम्हें केवल धर्म का द्वार दिखा सकते हैं, बस इतना ही।

एक और दल है—योग प्रिय। वे जीव के भिन्न-भिन्न परदे, मन के भिन्न-भिन्न स्तर, मानसिक-शक्ति की क्षमता आदि कई बातें तुमसे कहेंगे, और यदि तुम साधारण मनुष्य की भाँति उनसे यह कहो कि "मुझे कुछ अच्छी बातें बताओ, जिन्हें मैं कार्य रूप में परिणत कर सकूँ, क्योंकि मैं उतना कल्पना प्रिय नहीं हूँ, क्या आप मुझे ऐसा कुछ दे सकते हैं, जो मेरे लिए उपयोगी हो ?" तो वे हँस-

कर कहेंगे—"सुनते हो, यह निर्बोध क्या कह रहा है ? इसे कुछ भी समझ नहीं है—इस अहमक का जीवन ही व्यर्थ है ।" संसार में सब जगह यही हाल है । मैं इन सब भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के चुने हुए धर्म ध्वजियों को एक बन्द कमरे में इकट्ठा करके, उनके सुन्दर विद्रूपव्यल्जक हास्य का फोटोग्राफ लेना चाहता हूँ ।

धर्म की वर्त्तमान अवस्था यही है और सब का वर्त्तमान मनोभाव भी यही है । मैं एक ऐसे धर्म का प्रचार करना चाहता हूँ, जो सब तरह की मानसिक-अवस्था वाले लोगों के लिए उपयोगी हो सके—उसमें ज्ञान, भक्ति, योग तथा कर्म समभाव से रहेंगे । यदि कालेज से वैज्ञानिकपदार्थ-विद् अध्यापकगण आवें, तो वे युक्ति-विचार को पसन्द करेंगे । उन्हें जहाँ तक सम्भव हो युक्ति-विचार करने दो । अन्त में वे एक ऐसी स्थिति पर पहुँचेंगे, जहाँ से 'युक्ति-विचार की धारा अविच्छिन्न रखकर वे और आगे बढ़ ही ही नहीं सकते'—इसे वे समझ जाएँगे । तब वे स्वयं ही कह उठेंगे—'ईश्वर, मुक्ति आदि भाव कुसंस्कार हैं—उन सब को त्याग दो ।' मैं कहता हूँ—"हे दार्शनिकों ! तुम्हारी यह पंच-भौतिक देह तो उससे भी बड़ा कुसंस्कार है, तुम इसका परित्याग करो । आहार करने के लिए घर में अथवा अध्यापन के लिए दर्शन-कक्षा में अब तुम मत जाओ । शरीर को त्याग दो, और यदि ऐसा न हो सके तो चुपचाप बैठकर जोर-जोर से रोओ ।" क्योंकि धर्म, जगत् के एकत्व और एक ही सत्य के अस्तित्व की सम्यक् उपलब्धि करने का उपाय बता देगा । इसी प्रकार यदि कोई योग-प्रिय व्यक्ति आए तो हम उनकी आदर पूर्वक अभ्यर्थना करके वैज्ञानिक-

भाव से मनस्तत्त्व का विश्लेषण कर देने तथा उनकी आँखों के सामने उसका प्रयोग दिखाने को प्रस्तुत रहेंगे। यदि भक्त लोग आएँ तो हम उनके साथ मिल-बैठकर ईश्वर के नाम पर हँसेंगे तथा रोएँगे, प्रेम का प्याला पीकर उन्मत हो जाएँगे। यदि एक वीर्यवान कर्मी आए तो उसके साथ यथासाध्य काम करेंगे। भक्ति, योग, ज्ञान तथा कर्म का इस प्रकार समन्वय सार्वभौमिक धर्म का अत्यन्त निकटतम आदर्श होगा। ईश्वर की इच्छा से यदि सब लोगों के मन में इस ज्ञान, योग, भक्ति तथा कर्म का प्रत्येक भाव ही पूर्ण मात्रा में तथा साथ ही समभाव से विद्यमान रहे, तो मेरे मत से मानव का सर्वश्रेष्ठ आदर्श वही होगा। जिसके चरित्र में इन भावों में से एक अथवा दो भाव प्रस्फुटित हुए हैं, मैं उन्हें एकदेशीय कहता हूँ। तथा सम्पूर्ण संसार ऐसे ही लोगों से भरा हुआ है, जो केवल अपना ही मार्ग जानते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य जो कुछ है, वह सब उनके समीप विपत्तिकर तथा भयंकर है। इस प्रकार चारों ओर समभाव से विकास प्राप्त करना ही मेरे कहे हुए धर्म का आदर्श है तथा भारतवर्ष में हम जिसे योग कहते हैं, उसी के द्वारा इस आदर्श धर्म को प्राप्त किया जा सकता है। कर्मी के लिए यह मनुष्य के साथ मनुष्य-जाति का योग है, योगी के लिए जीवात्मा तथा परमात्मा का योग है, भक्त के लिए अपने साथ प्रेममय भगवान् का योग है तथा ज्ञानी के लिए बहुत्व के बीच एकत्वानुभूति रूप योग है। 'योग' शब्द से यही अर्थ निकलता है। यह एक संस्कृत शब्द है तथा संस्कृत में इस योग के चार भिन्न-भिन्न प्रकार के नाम हैं। जो इस प्रकार का योग-साधन करना चाहते हैं, वे ही योगी हैं। जो कर्म

के भीतर से इस योग का साधन करते हैं—उन्हें 'कर्म-योगी' कहते हैं। जो भगवान् के भीतर से इस योग का साधन करते हैं—उन्हें 'भक्ति-योगी' कहा जाता है। जो मन-संयोग के भीतर से इस योग का साधन करते हैं—उन्हें 'राज योगी' कहते है। और जो ज्ञान-विचार के बीच इस योग का साधन करते हैं—उन्हें 'ज्ञान योगी' कहा जाता है। अतः योगी कहने से इन सभी का अर्थ निकलता है।

पहले राजयोग की ही बात लीजिए। इस मन संयोग का क्या अर्थ है? इंगलैण्ड में आप लोगों ने योग शब्द के साथ भूत-प्रेत आदि भाँति-भाँति की अजीब धारणाएँ कर रक्खी हैं। इसलिए मैं आप लोगों से यह पहले ही कह देता हूँ कि योग के साथ इसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। कोई भी योग युक्ति-विचारों को त्याग कर आँखों में कपड़ा बाँध-कर ढूँढ़ते फिरना अथवा अपने युक्ति-विचारों को ऐरे-गैरे पुरोहितों के हाथ सौंप देने के लिए नहीं कहता। उनमें से कोई भी यह नहीं कहता कि तुम को किसी मनुष्य के निकट श्रद्धा-भक्ति अर्पित करनी होगी। प्रत्येक का यही कहना है कि तुम अपनी विचार-शक्ति का दृढ़-आलिंगन करके उसी में लगे रहो। हम प्राणियों में ज्ञान-प्राप्ति के तीन उपाय देखते हैं। पहला तो सहज-ज्ञान है जो जीव-जन्तुओं में विशेष प्रस्फुटित देखा जाता है। यह ज्ञान-प्राप्ति का सबसे निम्न उपाय है। दूसरा उपाय क्या है? वह है—विचार-शक्ति। मनुष्यों में ही इसका सर्वाधिक विकास दिखाई पड़ता है। पहला जो सहज-ज्ञान है, वह एक असम्पूर्ण उपाय है। जीव-जन्तु का कार्य-क्षेत्र अत्यन्त संकीर्ण है तथा इस संकीर्ण-क्षेत्र में ही सहजात-ज्ञान काम में आता है। यही सहज-ज्ञान मनुष्य के लिए

विशेष परिस्फुटत होकर विचार-शक्ति में परिवर्त्तित हुआ है, साथ ही कार्यक्षेत्र भी बढ़ गया है। फिर भी, यह विचार-शक्ति बहुत असम्पूर्ण है। यह कुछ दूर आगे बढ़कर ही रह जाती है, फिर आगे नहीं बढ़ सकती। और यदि उसे और आगे ले जाने का प्रयत्न करो तो फल स्वरूप भयानक गोलमाल उपस्थित हो जाएगा। युक्ति स्वयं ही अयुक्ति में बदल जाएगी। न्याय की भाषा में यह अन्योन्याश्रय (Arguement in a circle) से दूषित हो जाएगी।

हमारे प्रत्यक्ष ज्ञान के मूलभूत-कारण जड़ तथा शक्ति की बात लीजिए। जड़ क्या है ?—जिस पर शक्ति कार्य करती है। और शक्ति क्या है ?—जो जड़ पर कार्य करती है। आप लोग यह अवश्य समझ गए होंगे कि गोलमाल क्या है ! न्यायशास्त्रवेत्ता इसे अन्योन्याश्रय दोष कहते हैं—पहले का भाव दूसरे पर निर्भर हो रहा है तथा दूसरे का भाव पहले पर निर्भर हो रहा है। इसीलिए आपके युक्ति पथ में एक बड़ी भारी बाधा दिखाई दे रही है, जिसे लाँघ-कर युक्ति आगे नहीं बढ़ सकती। फिर भी, इसके पीछे जो अनन्त राज्य विद्यमान है, वहाँ पहुँचने के लिए युक्ति निरन्तर व्यस्त है। पंचेन्द्रियगम्य तथा मन के विषयीभूत, हमारी संज्ञा के ऊपर प्रतिफलित उस अनन्त का एक कण मात्र तथा संज्ञा रूप जाल से घिरे हुए, इस अखिलविश्व-जगत् से छोटे घेरे के भीतर ही हमारी विचार-शक्ति काम करती है। उसके बाहर नहीं जा सकती। इसीलिए, इसके बाहर निकलने के हेतु अन्य किसी उपाय की आवश्यकता है। अतीन्द्रियबोध वही उपाय है। अतः सहज-ज्ञान, विचार-शक्ति तथा अतीन्द्रिय-बोध—ये तीनों ही ज्ञान प्राप्ति के उपाय हैं।

पशुओं में सहज-ज्ञान, मनुष्य में विचार शक्ति तथा देव-मानव में अतीन्द्रियबोध दिखाई देता है। परन्तु सब मनुष्यों में इन तीनों शक्तियों का बीज थोड़ा-बहुत परिस्फुटित दिखाई देता है। इन सब मानसिक-शक्तियों का विकास होने के लिए उनके बीजों का भी मन में विद्यमान रहना आवश्यक है। तथा यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि एक शक्ति दूसरी शक्ति की विकसित अवस्था ही है, अतः वे परस्पर विरोधी नहीं हैं। विचार-शक्ति ही परिस्फुटित होकर अतीन्द्रिय-दोष में परिवर्त्तित हो जाती है, अतः अतीन्द्रियबोध विचार-शक्ति का परिपंथी नहीं है, परन्तु उसकी पूर्णता का साधन करती है। जो-जो विषय विचार-शक्ति द्वारा समझ में नहीं आते, उन सबको अतीन्द्रिय-बोध द्वारा समझना पड़ता है तथा वह विचार-शक्ति का विरोधी नहीं है। वृद्ध, बालक विरोधी नहीं है, परन्तु उसी की परिणति है। अतः आपको यह सदैव स्मरण रखना होगा कि निम्नश्रेणी की शक्ति को उच्चश्रेणी की शक्ति कहकर जो भूल की गई है; उससे भयानक विपत्ति की सम्भावना है। अनेक बार सहज-ज्ञान को अतीन्द्रिय-बोध कह दिया जाता है और साथ ही भविष्य-वक्ता बनने का मिथ्या दावा भी किया जाता है। एक निर्बोध अथवा अर्धोन्मत आदमी समझता है कि उसके मस्तिष्क में जो पागलपन है, वह अतीन्द्रिय ज्ञान है तथा वह यह चाहता है कि सभी लोग उसका अनुसरण करें। संसार में जो परस्पर-विरोधी असम्बद्ध-प्रलाप-वाक्य प्रचारित हुए हैं, वे केवल विकृत-मस्तिष्क वाले उन्मत्त लोगों के सहज-ज्ञान-लब्ध प्रलाप को अतीन्द्रिय-बोध की भाषा में प्रकट करने के प्रयत्न मात्र हैं।

यथार्थ शिक्षा का पहिला लक्षण यह होना चाहिए कि वह किसी भी प्रकार युक्ति विरोधी न हो। इससे आपको यह पता चल जाएगा कि ऊपर लिखे हुए सभी योग इसी भित्ति पर आश्रित हैं। पहले राजयोग की बात लीजिए। राजयोग मनस्तत्त्व विषय का योग है—मनस्तत्त्व के विश्लेषण से एकत्व को प्राप्त किया जा सकता है। विषय बहुत बड़ा है, अतः मैं अभी इस योग के आभ्यन्तरीण मूलभाव को आप लोगों के समक्ष व्यक्त करता हूँ। हम लोगों के लिए ज्ञान प्राप्ति का केवल एक ही उपाय है। निम्नतम मनुष्य से लेकर सर्वोच्च योगी तक को उसी उपाय का आश्रय लेना पड़ता है। वह उपाय है—एकाग्रता। रसायन वेत्ता जब अपनी प्रयोगशाला (Laboratorry) में कार्य करते हैं, उस समय वे अपने मन की सम्पूर्ण शक्ति को एकत्र कर लेते हैं—केन्द्रीभूत कर लेते हैं,—और उस केन्द्रीभूत शक्ति का मूलभूतों के ऊपर प्रयोग करते ही, वे सब विश्लेषित हो जाते हैं तथा इस तरह वे उनका ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ होते हैं। ज्योतिर्वेत्ता भी अपनी समस्त मनःशान्ति को एकीभूत कर—केन्द्रीभूत कर—दूरिक्षण यन्त्र के भीतर से वस्तु के ऊपर प्रयोग करते हैं, जिससे घूमने वाले नक्षत्र तथा ग्रहमण्डल उनके समीप अपने रहस्य को उद्घाटित कर देते हैं। चाहे विद्वान् अध्यापक हो, चाहे मेधावी क्षात्र हो, अथवा अन्य कोई भी हो; यदि वह किसी विषय को जानने का प्रयत्न करता है, तो उसे उपरोक्त क्रिया से ही काम लेना पड़ेगा। आप सब मेरी बातों को सुन रहे हैं, यदि मेरी बातें आपको अच्छी लगीं, तो आप का मन मेरी बातों के प्रति एकाग्र हो जाएगा। फिर यदि कोई आपके कान

के समीप घण्टा भी बजाए तो आपको सुनाई नहीं देगा, क्योंकि उस समय आपका मन किसी अन्य विषय में एकाग्र हुआ रहेगा। आप अपने मन को जितना अधिक एकाग्र करने में समर्थ हो सकेंगे, आप मेरी बातों को उतना ही अधिक समझ सकेंगे तथा मैं अपने प्रेम तथा शक्ति-समूह को जितना अधिक एकाग्र कर सकूँगा, उतना ही अधिक अच्छी तरह से मैं आपको अपनी बात समझा सकूँगा। यह एकाग्रता जितनी अधिक होगी, मनुष्य उतना ही अधिक ज्ञान-लाभ कर सकेंगे; क्योंकि ज्ञान-लाभ का यही एकमात्र उपाय है—"नान्यः पन्था विद्यते अयनाय।" मोची यदि कुछ अधिक मन लगाकर काम करे, तो वह जूतों पर अधिक अच्छी तरह से पालिश कर सकेगा, रसोईदार अधिक एकाग्र होने से भोजन को भलीभाँति पका सकेगा। धन का उपार्जन हो, अथवा भगवत्-आराधना हो—जिस कार्य में जितनी अधिक एकाग्रता होगी, वह कार्य उतने ही अधिक अच्छी प्रकार से सम्पन्न होगा। द्वार के समीप जाकर पुकारने अथवा खटखटाने से जिस प्रकार द्वार खुल जाता है, उसी प्रकार केवल इस उपाय द्वारा प्रकृति के भण्डार का द्वार खुलकर विश्व में प्रकाश की धारा प्रवाहित होती है। राजयोग में केवल इसी विषय की आलोचना है। अपनी वर्त्तमान शारीरिक अवस्था में हम अत्यन्त अन्यमनस्क हो रहे हैं। इस समय हमारा मन सैकड़ों ओर दौड़कर अपनी शक्ति का क्षय कर रहा है। मैं जब कभी व्यर्थ की सब चिन्ताओं को त्याग कर ज्ञान-प्राप्ति के उदेश्य से मन को स्थिर करने का प्रयत्न करता हूँ, उस समय न जाने कहाँ से सहस्रों बाधाएँ आ जाती हैं। सहस्रों चिन्ताएँ मनमें एक साथ आकर उसे चञ्चल बना देती हैं।

इन सबका निवारण करके मनको किस तरह से वशीभूत किया जाय, राजयोग का यही एकमात्र आलोच्य-विषय है।

अब कर्मयोग अर्थात् कर्म द्वारा ईश्वर-प्राप्ति की बात लीजिए। संसार में ऐसे बहुत लोग दिखाई पड़ते हैं, जिन्होंने जैसे किसी-न-किसी तरह का कर्म करने के लिए ही जन्म ग्रहण किया है। उनका मन केवल चिन्ता-राज्य में ही एकाग्र होकर नहीं रह सकता—वे केवल उस कार्य को समझते हैं, जो आँखों से देखा जा सकता है तथा हाथों से किया जा सकता है। इस तरह के लोगों के लिए एक सुशृङ्खल-व्यवस्था की आवश्यकता है। हम में से प्रत्येक ही किसी-न-किसी तरह का कार्य कर रहा है, परन्तु हम लोगों में से अधिकांश लोग अपनी अधिकांश शक्ति का दुरुपयोग करते हैं। इसका कारण यह है कि हमें कर्म का रहस्य ज्ञात नहीं है। कर्मयोग इस रहस्य को समझा देता है तथा 'कहाँ किस भाव से कार्य करना होगा, उपस्थित कर्म में हमारी शक्ति का प्रयोग किस भाव से करने पर सबसे अधिक फल प्राप्त होगा'—इस बात की शिक्षा देता है। हाँ, कर्म के विरुद्ध, यह कहकर जो प्रबल आपत्ति उठाई जाती है कि वह दुःख-जनक है, इसका भी विचार करना होगा। सभी दुःख और कष्ट आशक्ति से आते हैं। मैं काम करना चाहता हूँ, मैं किसी मनुष्य का उपकार करना चाहता हूँ। अब प्रायः यही देखा जाता है कि मैंने जिसकी सहायता की है, वह व्यक्ति समस्त उपकारों को भूलकर मुझसे शत्रुता करेगा—उसका फल यह होगा कि मुझे कष्ट पाना होगा। ऐसी घटनाओं के फल से ही मनुष्य कर्म से विमुख हो जाता है तथा इन दुःखों तथा कष्टों का भय ही मनुष्यों के कर्म

तथा उद्यम को अधिक नष्ट कर देता है। 'किसकी सहायता की जा रही है अथवा किस कारण से सहायता की जारही है, आदि विषयों पर लक्ष्य न करते हुए, अनासक्त भाव से केवल कर्त्तव्य समझ कर ही कर्म करना चाहिए'—कर्मयोग यही शिक्षा देता है। कर्मयोगी कर्म करते हैं। क्योंकि, यह उनका स्वभाव है। वे अपने हृदय में इसका अनुभव करते हैं कि ऐसा करना ही उनके लिए कल्याणकारक है। इसके अतिरिक्त उनका अन्य कोई उद्देश्य नहीं रहता। वे संसार में सदैव 'दाता' का आसन ही ग्रहण करते हैं, कभी किसी वस्तु की प्रत्याशा नहीं रखते। वे जानबूझ कर दान करते जाते हैं, परन्तु प्रतिदान स्वरूप कुछ नहीं चाहते। इसीलिए वे दुःखों के हाथ से रक्षा पाते हैं। जब दुःख हमें ग्रस लेता है, तब यही समझना चाहिए कि यह केवल आसक्ति की ही प्रतिक्रिया है।

अब इसके पश्चात्, भावुक तथा प्रेमी लोगों के लिए भक्तियोग है। भक्त भगवान् से प्रेम करना चाहते हैं। वे धर्म के अङ्ग स्वरूप क्रिया-कलापों की सहायता लेते हैं तथा पुष्प, गन्ध, सुरम्य मन्दिर, मूर्त्ति आदि अनेक प्रकार के द्रव्यों से सम्बन्ध रखते हैं। आप लोग क्या यह कहना चाहते हैं कि वे भूल करते हैं? मैं आपसे एक सच्ची बात कहना चाहता हूँ। वह आप लोगों को—विशेषकर इस देश में—याद रखनी उचित है। जो सब धर्म-सम्प्रदाय अनुष्ठान तथा पौराणिक-तत्त्व की सम्पत्ति से समृद्ध हैं, विश्व के श्रेष्ठ-आध्यात्मिक-शक्तिसम्पन्न महापुरुषों ने उन्हीं सम्प्रदायों में जन्म ग्रहण किया है तथा जो सब सम्प्रदाय किसी प्रतीक अथवा अनुष्ठान-विशेष की सहायता के बिना ही ईश्वर-प्राप्ति का

प्रयत्न करते है, जो धर्म की समस्त सुन्दरता, महानता तथा अन्य सब कुछ को निर्मम-भाव से पददलित करते हैं, अत्यन्त सूक्ष्म-दृष्टि से देखने पर भी उनका धर्म केवल कट्टरता ही है, शुष्क है। संसार का इतिहास इस बात का साक्षी है। अतः इन सब अनुष्ठान एवं पुराणों आदि को गाली मत दीजिए। जो लोग इन्हें लेकर रहना चाहते हैं, उन्हें रहने दीजिए। आप व्यर्थ ही व्यंग्यात्मक हँसी हँसकर यह मत कहिए, "वे मूर्ख हैं। उन्हें उसी को लेकर रहने दो।" यह बात कदापि नहीं है, मैंने जीवन में जिन सब आध्यात्मिक-शक्ति-सम्पन्न श्रेष्ठ महापुरुषों के दर्शन किए हैं, वे सब इन्हीं अनुष्ठान आदि नियमों के बीच आगे बढ़ते रहे हैं। मैं स्वयं को उनके पदतल में बैठने के योग्य भी नहीं समझता। तब भला मैं उनकी समालोचना किस प्रकार करूँ ? ये सब भाव मानव-मन में किस प्रकार कार्य करते हैं तथा उनमें से कौन-सा हमारे लिए ग्राह्य है एवं कौन-सा त्याज्य है—इसे मैं किस तरह समझूँ ? हम उचित-अनुचित को न समझते हुए भी संसार की समस्त वस्तुओं की समालोचना करते रहते हैं। लोगों की जितनी इच्छा हो, उन्हें इन सब सुन्दर उद्दीपनापूर्ण पुराण आदि को ग्रहण करने दीजिए। क्योंकि आपको यह सदैव स्मरण रखना उचित है कि भावुक लोग सत्य की कुछ नीरस संज्ञा मात्र को लेकर रहना तनिक भी पसन्द नहीं करते। उनके समीप भगवान् 'धरने छूने की वस्तु है। वे ही एकमात्र वस्तु हैं।' वे अनुभव करते हैं कि वे (भगवान्) बात सुनते हैं, देखते हैं तथा प्रेम करते हैं। वे अपने भगवान् को ही लेकर रहें। आपकी युक्तिवादिता भक्त के निकट उसी तरह निर्बोध है, जिस तरह कोई व्यक्ति एक सुन्दर मूर्त्ति को

देखते ही उसे चूर्ण करके यह देखना चाहे कि वह किस पदार्थ की बनी हुई है । भक्तियोग उन्हें निःस्वार्थ भाव से प्रेम करने की शिक्षा देता है । कोई गूढ़ अभिसन्धि न रहे, लोकेषणा, पुत्रेषणा, वित्तेषणा कोई भी इच्छा न रहे; केवल भगवान् को अथवा जो कुछ मंगलमय है, केवल उसी से कर्त्तव्य समझ कर प्रेम करना । प्रेम ही, प्रेम का श्रेष्ठ प्रतिदान है तथा भगवान् ही प्रेम स्वरूप है—भक्तियोग यही शिक्षा देता है ।

भगवान् सृष्टिकर्ता, सर्वव्यापी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, शास्ता तथा माता-पिता हैं, यह कहकर उनके प्रति हृदय की सम्पूर्ण भक्ति तथा श्रद्धा अर्पण करने की शिक्षा ही भक्तियोग देता है । भाषा जो उनका सर्वश्रेष्ठ प्रकाश कर सकती है, अथवा मनुष्य उनके सम्बन्ध में जो सर्वोच्च धारणा कर सकता है, वह यह है कि वे प्रेममय हैं । जहाँ कहीं किसी प्रकार प्रेम है, वे वहीं हैं, वहीं प्रभु विद्यमान हैं । पति जब स्त्री का चुम्बन लेता है, तब वे उस चुम्बन में भी विद्यमान हैं । माता जब शिशु का चुम्बन करती है, तो वे उसमें भी विद्यमान हैं । मित्रों के कर-मर्दन में भी वे ही प्रभु विद्यमान हैं । जब कोई महापुरुष मानव-जाति के प्रेम के वशीभूत होकर, उनका कल्याण करने की इच्छा करते हैं, तब वे प्रभु ही अपने मानव-प्रेम भंडार से मुक्त-हस्त होकर प्रेम-वितरित करते हैं । जहाँ हृदय का विकास है, वहीं उनका प्रकाश है । भक्तियोग द्वारा इन्हीं सब बातों की शिक्षा प्राप्त होती है ।

अब, अन्त में, मैं ज्ञानयोगी की बात की आलोचना करूँगा । वे दार्शनिक तथा चिन्ताशील हैं, जो इस दृश्य-जगत के परे जाना चाहते हैं । वे संसार की उच्च वस्तुओं को

लेकर संतुष्ट नहीं रह सकते। वे भोजन आदि प्रतिदिन के नित्य-कर्म के परे चले जाना चाहते हैं। सहस्रों पुस्तकें पढ़ने पर भी उनकी शान्ति नहीं होती, यहाँ तक कि समस्त भौतिकविज्ञान भी उन्हें परितृप्त नहीं कर सकता। क्योंकि वे सब बहुत प्रयत्न करने पर इस क्षुद्र पृथ्वी को ही ज्ञान-गोचर कर सकते हैं। वाह्य ऐसा क्या है, जो उनका संतोष कर सके ? कोटि-कोटि सौर-जगत् भी उन्हें संतुष्ट नहीं कर सकते। वे अपनी दृष्टि में 'सत्' सिन्धु में केवल एक बिन्दु हैं। उनकी आत्मा इन सबके पार—जो सब अस्तित्वों का सार है, उसी में डूब जाना चाहती है—सत्य स्वरूप को प्रत्यक्ष करना चाहती है, वे उसकी उपलब्धि करना चाहते हैं, उनके साथ तादात्म्य लाभ करना चहते हैं, उस विराट् सत्ता के साथ एक हो जाना चाहते हैं। वे ही ज्ञानी हैं। वे—भगवान्, संसार के पिता, माता, सृष्टिकर्त्ता, रक्षाकर्त्ता, पथ-प्रदर्शक आदि वाक्यों द्वारा ईश्वर की महिमा को प्रकट करने में असमर्थ हैं। वे सोचते हैं—'ईश्वर उनके प्राणों के प्राण, आत्मा की आत्मा हैं, ईश्वर उनकी ही आत्मा हैं। ईश्वर के अतिरिक्त अन्य कोई भी वस्तु नहीं है। उनका समुदय नश्वर अंश विचारों के प्रबल आघात से चूर्ण-विचूर्ण होकर उड़ जाता है। अन्त में जो सचमुच ही विद्यमान रहता है, वही स्वयं ईश्वर है।'

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचतिमुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशस्य महिमानमिति नीत शोकः।
यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्यपाये विधूय निरंजनः परमं साम्यमुपैति ॥"

एक ही वृक्ष पर दो पक्षी हैं, एक ऊपर एक नीचे

ऊपर का पक्षी स्थिर, निर्वाक् तथा महान् है और अपनी ही महिमा में विभोर है। नीचे की डाल पर जो पक्षी है, वह कभी मीठा और कभी कड़ुआ फल खा रहा है। एक डाल से दूसरी डाल पर जा रहा है तथा पर्यायक्रम से स्वयं को कभी सुखी और कभी दुखी समझता है। कुछ देर बाद नीचे के पक्षी ने एक बहुत ही कड़ुआ फल खाया तथा साथ ही स्वयं को धिक्कारते हुए ऊपर की ओर दूसरे पक्षी को देखा। वह अपूर्व सुनहले पर वाला पक्षी न तो मीठे फल खाता है और न कड़ुए। स्वयं को न तो सुखी समझता है, और न दुखी ही; परन्तु शान्तभाव से स्वयं में ही विभोर है। उसे अपनी आत्मा के अतिरिक्त और कुछ भी दिखाई नहीं देता। नीचे का पक्षी इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए व्यग्र हुआ, परन्तु फिर शीघ्र ही भूल गया और फिर फल खाने लगा। कुछ देर पश्चात् उसने फिर एक अत्यन्त कड़ुआ फल खाया, जिससे उसके मन में अत्यन्त दुःख हुआ तथा फिर उसने ऊपर की ओर दृष्टि डाली और ऊपर वाले पक्षी के समीप जाने का प्रयत्न किया। परन्तु फिर भूल गया और कुछ देर बाद उसने फिर ऊपर देखा। अनेक बार ऐसा ही करते हुए, वह उस पक्षी के समीप जा पहुँचा तथा यह देखा कि उसके पाँवों से ज्योति का प्रकाश निकल कर उसके शरीर के चारों ओर पड़ रहा है। उसने एक परिवर्त्तन का अनुभव किया—जैसे वह मिलने जा रहा है; वह और भी समीप गया। तब यह देखा कि उसके चारों ओर जो कुछ था, वह सब गला जारहा है—अन्तर्हित हो रहा है। अन्त में उसने उस अद्भुत् परिवर्त्तन का अर्थ समझा। नीचे का पक्षी जैसे ऊपर वाले पक्षी की एक

घनीभूत छाया मात्र था—केवल प्रतिविम्ब था। वह स्वरूपतः ऊपर वाला पक्षी ही था। नीचे वाले पक्षी का मीठे तथा कड़ुए फल खाना एवं एक के पश्चात् दूसरे सुख और दुःख का बोध करना सब मिथ्या—सब स्वप्न मात्र था। वह प्रशान्त, निर्वाक्, महिमामय, शोक-दुःख से अतीत ऊपर वाला पक्षी ही सर्वदा विद्यमान था। ऊपर वाला पक्षी ईश्वर, परमात्मा, संसार का प्रभु है तथा नीचे वाला पक्षी जीवात्मा ही इस संसार के सुख-दुःख रूपी मीठे-कड़ुए फलों को खाने वाला है। बीच-बीच में जब जीवात्मा के ऊपर प्रबल आघात आ पड़ता है, तब वह कुछ दिन के लिए फल-भोग बंद करके उस अज्ञात-ईश्वर की ओर आगे बढ़ता है—सहसा उसके हृदय में ज्ञानज्योति का प्रकाश होता है। तब वह समझता है—यह संसार केवल मिथ्या-दृश्यजाल है। परन्तु इन्द्रियाँ फिर उसे बहिर्जगत् में उतार लाती हैं तथा पहले की ही भाँति वह फिर संसार के अच्छे-बुरे फल भोगों में लग जाता है। वह फिर एक अत्यन्त कठोर आघात प्राप्त करता है, और तत्पश्चात् उसका हृदय-द्वार खुलकर उसमें ज्ञान का प्रकाश होता है। इस प्रकार वह धीरे-धीरे भगवान् की ओर आगे बढ़ने लगता है और जितना ही वह अधिक समीवर्त्ती होने लगता है, उतना ही यह देखता है कि उसके अहंकारी 'मैं' का स्वयं ही लय होता चला जा रहा है। जब वह अत्यन्त समीप जा पहुँचता है, तब यह देख पाता है कि वह स्वयं ही भगवान् है तथा कह उठता है—"जिनको मैंने तुम्हारे निकट जगत् का जीवन, तथा अणु-परमाणु एवं चन्द्र-सूर्य में विद्यमान रहने वाला कहकर वर्णन किया है, वे ही हमारे इस जीवन के अवलम्ब हैं, हमारी आत्माओं

की आत्मा हैं । केवल इतना नहीं, "तुम्हीं वह हो, तत्व-मसि"—ज्ञानयोग हमें यही शिक्षा देता है । वह मनुष्य से कहता है—"तुम्हीं स्वरूपतः ईश्वर हो ।" वह मनुष्य को प्राणी-जगत् के बीच यथार्थ एकत्व दिखा देता है—'हममें से प्रत्येक के भीतर से प्रभु ही इस संसार में प्रकाशित हो रहे हैं ।' अत्यन्त सामान्य पददलित कीट से लेकर, जिन्हें हम विस्मय सहित हृदय की श्रद्धा भक्ति समर्पित करते हैं—उन श्रेष्ठ जीवों तक, सभी उस एकमात्र ईश्वर के ही प्रकाश हैं ।

अन्तिम बात यह है—इन सब भिन्न-भिन्न योगों को हमें कार्य में परिणत करना ही होगा । केवल उनके संबंध में कल्पना-जल्पना करने से कुछ नहीं होगा । "श्रोतव्यो मन्तव्यो निदि ध्यासितव्यः ।" पहले उनके सम्बन्ध में सुनना पड़ेगा, फिर सुने हुए विषयों पर चिन्तन करना होगा । हमें उन सबको भलीभाँति विचार पूर्वक समझना होगा ताकि हमारे मन में उनकी एक छाप पड़ जाय । इसके पश्चात् उनका ध्यान तथा उपलब्धि करनी होगी—जबतक कि हमारा सम्पूर्ण जीवन तद्भाव-भावित हो उठे । उस समय धर्म हमारे लिए केवल कतिपय धारणा, मतवाद-समष्टि अथवा कल्पना रूप ही नहीं रहेगा । भ्रमात्मक धारणा से आज हम अनेक मूर्खताओं को सत्य समझकर ग्रहण करके, सम्भवतः कल ही सम्पूर्ण मत परिवर्त्तन कर सकते हैं, परन्तु यथार्थ धर्म कभी परिवर्त्तित नहीं होता । धर्म अनुभूति की वस्तु है—वह मुख की बात, मतवाद, अथवा युक्ति-मूलक कल्पनामात्र नहीं है—चाहे वह कितना ही सुन्दर क्यों

न हो । आत्मा की ब्रह्म-स्वरूपता को जान लेना, तद्रूप हो जाना, उसका साक्षात्कार करना, यही धर्म है—वह केवल सुनने अथवा मान लेने की वस्तु नहीं है । समस्त मन-प्राण विश्वास की वस्तु के साथ एक हो जाएगा, यही धर्म है ।

सार्वभौमिक धर्म-लाभ का उपाय

जिस अनुसन्धान के द्वारा हम ईश्वर के सामीप्य का ज्ञान प्राप्त करते हैं, मनुष्यों के हृदय में उससे अधिक प्रिय अन्य कोई अनुसंधान नहीं है। अतीतकाल में अथवा वर्त्तमानकाल में मनुष्यों ने 'आत्मा', 'ईश्वर' तथा 'अदृष्ट' आदि के सम्बन्ध में जितनी आलोचना की है, उतनी आलोचना अन्य किसी विषय की नहीं हुई। हम अपने दैनिक कर्म, उच्च-आकांक्षा तथा अपने कर्त्तव्य आदि में कितने ही क्यों न डूबे रहें, परन्तु सबसे अधिक कठोर हमारे जीवन-संग्राम में कभी-कभी एक ऐसा स्थिर-मुहूर्त आ जाता है—जब कि हमारा मन सहसा रुककर यह जानना चाहता है कि इस विश्व-प्रपञ्च के परे क्या है? कभी-कभी वह भी उस अतीन्द्रिय राज्य का आभास पाता है और उसी के फल से उसे पाने का यथासाध्य प्रयत्न करता है। मनुष्य अतीन्द्रिय-दर्शन की इच्छा करता है, अपना विस्तार करने की इच्छा करता है

तथा हम जिसे उन्नति अथवा क्रमाभिव्यक्ति कहते हैं, वह सदैव मनुष्य जीवन की चरम-गति अथवा ईश्वरानुसंधानरूपी एकमात्र अनुसंधान के द्वारा ही परिमित होती है।

भिन्न-भिन्न जातियों के भिन्न-भिन्न प्रकार के समाज-गठन द्वारा जिस प्रकार हमें अपने सामाजिक-जीवन संग्राम का परिचय प्राप्त होता है, उसी प्रकार संसार के भिन्न-भिन्न धर्म-सम्प्रदाय भी मनुष्यों को आध्यात्मिक-जीवन-संग्राम का परिचय प्रदान करते हैं। भिन्न-भिन्न समाज जिस तरह सदैव ही परस्पर कलह तथा संग्राम कर रहे हैं—उसी तरह ये धर्म-सम्प्रदाय भी आपस में सदैव कलह तथा संग्राम कर रहे हैं। 'किसी एक विशेष-जाति के लोगों का दावा है। कि एकमात्र उन्हें ही जीवित रहने का अधिकार है, और जब तक सम्भव हो, वे दुर्बल के ऊपर अत्याचार करते हुए, अपना वह अधिकार जमाए रहते हैं। हमें ज्ञात है कि ऐसा एक अत्याचार आजकल के समय में दक्षिण अफ्रीका में हो रहा है। इसी प्रकार प्रत्येक धर्म-सम्प्रदाय का दावा है कि केवल उसे ही जीवित रहने का अधिकार है। अब हम यह देखते हैं कि यद्यपि मानव-जीवन में धर्म सबसे अधिक शान्तिदायक है, फिर भी धर्म ने ही ऐसी भयंकरता की सृष्टि की है, जैसी अन्य किसी ने नहीं की। धर्म ने ही सबसे अधिक शान्ति तथा प्रेम का विस्तार किया है, और धर्म ने ही सबसे अधिक भीषण घृणा तथा विद्वेष की भी सृष्टि की है। धर्म ने ही मनुष्य के हृदय में भ्रातृभाव की प्रतिष्ठा की है और धर्म ने ही मनुष्यों तथा पशुओं तक के लिए सबसे अधिक दातव्य-चिकित्सालयों की स्थापना की है तथा धर्म ने ही पृथ्वी में सबसे अधिक रक्त की नदियाँ बहाई हैं। हम यह भी जानते

हैं कि सब समय भीतर-ही-भीतर एक चिन्ता का स्रोत बह रहा है, सब समय ही, भिन्न-भिन्न धर्मों की तुलना-मूलक आलोचना करने में व्यस्त कितने ही तत्त्वान्वेषी दार्शनिक, इन सब विवादमान तथा विरुद्धमतावलम्बी धर्म-सम्प्रदायों में शान्ति-स्थापित करने का प्रयत्न पहले भी कर चुके हैं और अब भी कर रहे हैं। किसी-किसी देश में यह प्रयत्न व्यष्टि-भाव से सफल हुआ है, परन्तु सम्पूर्ण पृथ्वी की ओर देखने पर ज्ञात होता है कि समष्टि-भाव से यह प्रयत्न व्यर्थ ही सिद्ध हुआ है।

अत्यन्त प्राचीनकाल से कितने ही धर्म, जो हम लोगों के बीच प्रचलित हैं, उनके भीतर यह भाव भली-भाँति विद्यमान है कि सब सम्प्रदाय जीवित रहें, क्योंकि प्रत्येक सम्प्रदाय में एक उद्देश्य, एक महान् भाव निहित है, जो संसार के कल्याण के निमित्त आवश्यक है तथा इस कारण से उसका पोषण करना उचित है। वर्त्तमान समय में भी इस धारणा ने आधिपत्य जमा रक्खा है तथा समय-समय पर इसे कार्य रूप में परिणत करने के प्रयत्न भी किए जाते हैं। इन सब प्रयत्नों का सब समय आशानुरूप फलप्रद होना तो दूर रहा, अत्यन्त खेद की बात तो यह है कि हम और भी अधिक झगड़े तथा विवाद का सूत्रपात करते जा रहे हैं।

इस समय स्वमताभिमानी विचारों को प्रकट न करके यदि इस विषय को साधारण विचारबुद्धि की दृष्टि से देखा जाय तो सर्वप्रथम यह ज्ञात होगा कि पृथ्वी के सभी बड़े-बड़े धर्मों में एक प्रबल जीवनी-शक्ति विद्यमान है। शायद ही कोई यह कहे कि वे इस विषय में कुछ नहीं जानते, परन्तु अज्ञता तो एक बहाना नहीं हो सकता। यदि कोई कहे कि

"बहिर्जगत् में क्या हो रहा है अथवा क्या नहीं हो रहा है," इसे मैं नहीं जानता, अतः बहिर्जगत् में जो कुछ भी हो रहा है, वह सब झूँठ है; तो ऐसे व्यक्ति को क्षमा नहीं किया जा सकता । आप लोगों में जो लोग समस्त संसार में धर्म का विस्तार करना चाहते हैं, वे यह जानते हैं कि संसार का एक भी मुख्य-धर्म मरा नहीं है । केवल इतना ही नहीं, परन्तु, उनमें से प्रत्येक धर्म उन्नति की ओर आगे बढ़ रहा है । ईसाइयों की संख्या में वृद्धि हो रही है, मुसलमानों की संख्या बढ़ रही है, हिन्दू भी अपनी संख्या में उन्नति कर रहे हैं तथा यहूदी भी अपनी संख्या में बढ़ते हुए समस्त संसार में फैल कर यहूदी-धर्म की सीमा को दिन-प्रतिदिन बढ़ाते चले जा रहे हैं ।

केवल एक धर्म—एक प्रधान प्राचीन धर्म, धीरे-धीरे क्षय होता चला जा रहा है । वह है—पारसियों का जरतस्ट् धर्म । मुसलमानों के फारस-विजय के समय लगभग एक लाख पारसियों ने भारतवर्ष में आकर आश्रय ग्रहण किया था तथा कुछ पुराने लोग फारस में ही रह गए थे । जो फारस में रह गए थे, वे मुसलमानों द्वारा निरन्तर भगाए जाने से क्षय होने लगे—इस समय उनकी संख्या अधिक-से-अधिक दस हजार होगी । भारतवर्ष में उनकी संख्या लगभग आठ हजार है, परन्तु वे सब बढ़ते नहीं है । प्रारम्भ से ही उनकी एक असुविधा यह है कि वे किसी अन्य को अपने धर्म में नहीं मिलाते । साथ ही, भारत में रहने वाले इन मुट्ठी भर लोगों में भी सहोदरों के अतिरिक्त भाई-बहिनों के विवाह रूपी घोर अनिष्टकर-प्रथा का प्रचलन रहने के कारण इनकी वृद्धि नहीं होती । इस एकमात्र धर्म के अतिरिक्त

अन्य सभी धर्म जीवित हैं तथा वे विस्तारित एवं पुष्ट हो रहे हैं। हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि संसार के सभी प्रधान-धर्म बहुत पुराने हैं, उनमें से एक भी वर्त्तमान समय में गठित नहीं हुआ है तथा संसार का प्रत्येक धर्म गंगा एवं यूफ्रेटिस नदियों के मध्यवर्त्ती भूखंड पर उत्पन्न हुआ है। कोई भी प्रधान-धर्म अमेरिका अथवा यूरोप में उत्पन्न नहीं हुआ—एक भी नहीं। प्रत्येक धर्म एशिया से प्रकट हुआ है और वह भी केवल उसी अंश के बीच से। आधुनिक वैज्ञानिकों की यदि यह बात सत्य है कि "योग्यतम व्यक्ति एवं वस्तु ही जीवित रहेंगी" तो वह उसी से प्रमाणित हो जाता है कि ये सब धर्म अब भी जीवित हैं तथा कितने ही मनुष्यों के लिए उपकार-जनक हैं। ये भविष्य में भी इसी कारण से जीवित रहेंगे कि ये बहुत से मनुष्यों का उपकार कर रहे हैं। मुसलमानों को देखिए, उन्होंने दक्षिण एशिया के कुछ स्थानों में कैसा विस्तार लाभ किया है तथा अफ्रीका में वे अग्नि की भाँति फैल गए हैं। बौद्धों ने मध्यएशिया में निरन्तर विस्तार लाभ किया है। यहूदियों की भाँति हिन्दू भी अपने धर्म में दूसरों को ग्रहण नहीं करते, फिर भी अन्यान्य जातियाँ धीरे-धीरे हिन्दूधर्म के भीतर चली आ रही हैं तथा हिन्दुओं के आचार-व्यवहार को ग्रहण करके उनके समश्रेणीभुक्त होती चली जा रहीं है। ईसाईधर्म ने कैसा विस्तार लाभ किया है, इसे आप सब जानते हीं हैं। परंतु मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि फिर भी उनकी चेष्टा के अनुरूप फल नहीं हो रहा है। ईसाइयों के धर्म-प्रचार के कार्य में एक बड़ा भारी दोष रह गया है और वह दोष पाश्चात्य-सम्प्रदाय मात्र में उपस्थित है। शक्ति का नब्बे प्रतिशत अंश

कल-पुर्जो में ही व्यय हो जाता है; क्योंकि यहाँ कल-कारखाने बहुत अधिक हैं। प्राच्य लोग प्रचार-कार्य तो निरन्तर करते ही आ रहे हैं। पाश्चात्य लोग संघबद्ध भाव से कार्य, सामाजिक अनुष्ठान, युद्ध, सज्जा, राज्य-शासन आदि अत्यंत सुन्दर रूप से सम्पन्न कर सकते हैं, परन्तु धर्म-प्रचार के क्षेत्र में वे प्राच्य की समानता नहीं कर सकते; क्योंकि, वे निरंतर इसे करते आए हैं—और वे इसमें अभिज्ञ हैं तथा वे औजारों का अधिक उपयोग भी नहीं करते।

अतः मनुष्य-जाति के वर्त्तमान इतिहास में यह एक प्रत्यक्ष घटना है कि पूर्वकथित सभी प्रधान-प्रधान धर्म ही विद्यमान हैं तथा वे विस्तारित एव पुष्ट होते जा रहे हैं। इस घटना का अवश्य ही कोई अर्थ है तथा सर्वज्ञ, परमकारुणिक सृष्टिकर्त्ता की यदि यही इच्छा होती कि "इनमें से केवल एक ही धर्म रहे, शेष सब नष्ट हो जाएँ," तो उनकी यह इच्छा बहुत पहले ही पूरी हो जाती। अथवा 'इन सब धर्मों में से केवल एक ही सत्य होता तथा अन्य सब मिथ्या होते' तो वह एक धर्म अब तक सम्पूर्ण पृथ्वी पर फैल जाता। परन्तु बात ऐसी नहीं है। इनमें से एक ने भी सम्पूर्ण संसार पर अधिकार नहीं किया है। समस्त धर्म किसी-न-किसी समय उन्नति तथा किसी-न-किसी समय अवनति की ओर जाते हैं। यह भी विचारणीय बात है कि तुम्हारे देश में जो छः करोड़ मनुष्य हैं, उनमें से केवल दो करोड़ दस लाख ही किसी-न-किसी धर्म के अनुयायी हैं। इसका अर्थ है कि प्रत्येक समय में ही धर्म की उन्नति नहीं होती। हाँ, विचार करने से यह ज्ञात होगा कि सभी देशों में धर्म कभी उन्नति और कभी अवनति करता है। उस पर भी

यह देखा जाता है कि संसार में सम्प्रदायों की संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है । किसी सम्प्रदाय विशेष का यह कहना यदि सत्य होता कि सम्पूर्ण सत्य उसी में भरा हुआ है तथा ईश्वर उस निखिल सत्य को केवल उसी के धर्म-ग्रन्थ में लिख गए हैं'—तो फिर संसार में इतने सम्प्रदाय क्यों हैं ? पचास वर्ष के भीतर ही केवल एक पुस्तक-विशेष के आधार पर बीसियों नए सम्प्रदाय उठ खड़े होते हैं । यदि ईश्वर ने कुछ पुस्तकों में ही निखिल सत्य को आबद्ध कर दिया है, तो भी उन्होंने हमें उनके शब्दार्थ पर झगड़ा करने के लिए नहीं कहा है । परन्तु घटनाएँ ऐसी ही दिखाई पड़ रही हैं । ऐसा किसलिए होता है ? यदि ईश्वर वास्तव में किसी ग्रन्थ में समस्त सत्य को लिख देते, तब भी कोई उद्देश्य सिद्ध नहीं होता । कोई उसे समझ ही नहीं सकता । उदाहरण के लिए, बाइबिल अथवा ईसाइयों में प्रचलित सम्प्रदाय-समूह की बात ही लीजिए । प्रत्येक सम्प्रदाय उस एक ही पुस्तक की अपने मत के अनुसार व्याख्या करता हुआ, यह कह रहा है कि 'केवल उसी ने उसे ठीक तरह से समझा है, शेष सब लोग भ्रांत हैं ।' प्रत्येक धर्म में यही बात है । मुसलमानों तथा बौद्धों में अनेक सम्प्रदाय हैं, हिंदुओं में भी सैकड़ों हैं । मैंने जिन-जिन घटनाओं को आपके समक्ष स्थापित किया है, उनका उद्देश्य यह है कि मैं यह दिखाना नहीं चाहता हूँ कि धर्म के सम्बन्ध में सम्पूर्ण मनुष्य-जाति को जितनी भी बार एक ही चिन्ताधारा में बहा ले जाने का प्रयत्न किया गया है, उतना ही वह विफल हुआ है तथा आगे भी होगा । यहाँ तक कि वर्त्तमान समय में भी नए मत-प्रर्वतक यह देख रहे हैं कि अपने अनुयायियों के पास से

बीस मील दूर जाते-न-जाते वे अनुयायी बीसों दल गठन कर लेते हैं। आप भी हर समय इन घटनाओं को देख रहे हैं। बात यह है कि सब लोगों के एक ही प्रकार का भाव ग्रहण करने से काम नहीं चलता और इसके लिए मैं भगवान् को धन्यवाद देता हूँ कि मैं किसी भी सम्प्रदाय का विरोधी नहीं हूँ, अपितु भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के रहने से सन्तुष्ट हूँ और मेरी विशेष इच्छा है कि इन सभी की संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ती चली जाय। इसका क्या कारण है? कारण यह है कि यदि आप, मैं तथा यहाँ उपस्थित सभी सज्जन एक ही प्रकार की भाव-राशियों की चिन्ता करें, तो हमारे चिन्ता करने का विषय ही कोई नहीं रहेगा। 'दो अथवा इससे अधिक शक्तियों में संघर्ष होने से ही गति सम्भव है'—इसे सब लोग जानते हैं, उसी तरह चिन्ता के घात-प्रतिघात से ही—चिन्ता के वैचित्र्य से ही नई चिन्ता का उद्भव होता है। और यदि हम सब एक ही तरह की चिन्ता करते, तो हम मिश्र देश के अजायबघर की ममियों की भाँति एक-दूसरे के मुँह की ओर मुँह बाये देखते रहते, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। वेगवती सजीव नदी में ही भँवर रहता है, बद अथवा मरे हुए जल में भँवर नहीं होता। जब सब विनष्ट हो जाएँगे, जब सम्प्रदाय नहीं रहेंगे, श्मशान की पूर्ण शान्ति तथा साम्य आकर उपस्थित होगा। परन्तु जबतक मनुष्य चिन्ता करेंगे, तबतक सम्प्रदाय भी रहेंगे। वैषम्य ही जीवन का चिह्न है, और वह अवश्य ही रहेगा। मैं प्रार्थना करता हूँ कि संसार में जितने मनुष्य हैं, उतने ही सम्प्रदाय भी बढ़ जाँय, जिससे धर्म-राज्य में प्रत्येक मनुष्य अपने मार्ग से, अपनी व्यक्तिगत चिन्ता-प्रणाली

के अनुसार चल सके।

परन्तु यह बात पहले से ही विद्यमान् है। हममें से प्रत्येक व्यक्ति अपने भाव से चिन्ता कर रहा है। परन्तु इस स्वाभाविक गति को निरन्तर धक्का लगा है तथा अब भी लग रहा है। प्रत्यक्ष रूप से तलवार ग्रहण न करने पर भी अन्य उपायों द्वारा उसे ग्रहण किया जाता है। न्यूयार्क के एक श्रेष्ठ प्रचारक क्या कहते हैं, सुनिए—वे प्रचार कह रहे हैं कि "फिलिपाइन-निवासियों को युद्ध से जीतना होगा, क्योंकि उन्हें ईसाईधर्म की शिक्षा देने का एकमात्र यही उपाय है।" वे स्वय तो पहले से ही कैथलिक सम्प्रदाय मुक्त हो गए हैं, परन्तु उन्हें प्रेस विटेरियन बनाना चाहते हैं तथा इसके लिए वे इस रक्तपात-जनित घोर-पापराशि को अपनी जाति के कन्धों पर रखने के लिए भी उद्यत हुए हैं। कैसी भयानक बात है ? उस पर भी ये महोदय देश के एक सर्वश्रेष्ठ प्रचारक तथा श्रेष्ठ विज्ञ व्यक्ति माने जाते हैं। जब इस प्रकार का एक मनुष्य सब के समक्ष खड़ा होकर ऐसे कर्दय-प्रलाप वाक्य कहने में लज्जित नहीं होता, तब संसार की बात को एक बार सोचिए। विशेषकर, जब सुनने वाले उसे उत्साहित कर रहे हैं। क्या यही सभ्यता है ? यह मनुष्य भोजी-व्याघ्र तथा असभ्य-जङ्गली जाति की चिर-अभ्यस्त रक्त-पिपासा के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। केवल नए नाम तथा नए अवस्था-चक्र के भीतर से प्रकाशित हो रही है। इसके अतिरिक्त और हो भी क्या सकता है ? वर्तमानकाल में यदि इस प्रकार की घटना हो, तब विचार करके देखिए कि जब प्रत्येक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय को टुकड़े-टुकड़े काटकर फेंक देने का प्रयत्न करता

था, उस प्राचीनकाल द्वारा संसार को किस भयानक-यंत्रणा का सामना करना पड़ा होगा ? इतिहास इसका साक्षी है ।

हमारी शार्दूल-सुलभ वृत्तियाँ अभी केवल सोई हुई हैं—एकदम मरी नहीं है । सुयोग उपस्थित होने के साथ ही वे पहिले की भाँति जागकर हिंस्र-भाव से आक्रमण करेंगी । जड़पदार्थों के लिए तलवार की अपेक्षा कहीं अधिक भीषण अस्त्र-शस्त्र मौजूद हैं । वे हैं—अवज्ञा, सामाजिक घृणा तथा समाज से निष्कासन । जो ठीक हमारी तरह चिन्ता नहीं करते, उन पर इन सब भीषण अस्त्रों की वर्षा होती है । अब वे किसलिए हमारी ही तरह चिन्ता करेंगे ? मैं तो इसका कोई कारण नहीं देखता । यदि मैं विचारशील हूँ, तो मुझे इसमें आनन्दित होना उचित है कि सब मेरे भाव से ही भावित नहीं है । मैं प्रेतभूमि जैसे देश में नहीं रहना चाहता । मैं मानव-संसार में रहना चाहता हूँ—मनुष्यों में मनुष्य होना चाहता हूँ । चिन्ताशील व्यक्तिमात्र में ही मतभेद रहेगा, क्योंकि पार्थक्य ही चिन्ता का प्रथम लक्षण है । यदि मैं चिन्ताशील हूँ तो मुझे चिन्ता-शील लोगों के साथ रहने की ही इच्छा होनी चाहिए—जहाँ मत का पार्थक्य चलता रहे ।

उसके पश्चात् यह प्रश्न उठ सकता है कि ये सब भिन्न-भिन्न धर्माक्रांत वस्तुएँ किस तरह सत्य हो सकती हैं ? एक वस्तु के सत्य होने पर उसका विपरीत भाग मिथ्या होगा । एक ही समय दो विपरीत वस्तुएँ किस-प्रकार सत्य हो सकती है ? मैं इसी प्रश्न का उत्तर देना चाहता हूँ । उससे पूर्व मैं आपसे एक बात पूछता हूँ कि क्या पृथ्वी के

धर्म वास्तव में एकान्त-विरोधी हैं ? जिन सब वाह्य आचारों के आचरण में जो बड़ी-बड़ी चिन्ताएँ प्रकाश पाती हैं, मैं उनकी बात नहीं कहता। अनेक धर्मों में व्यवहृत विभिन्न मंदिर, भाषा, क्रियाकांड, शास्त्र आदि की बात भी नहीं कहता, मैं प्रत्येक धर्म के भीतर की प्राणवस्तु की बात कहता हूँ। प्रत्येक धर्म के पीछे एक-एक प्राणवस्तु अथवा आत्मा है तथा एक धर्म की आत्मा अन्य धर्म की आत्मा से भिन्न भी हो सकती है, परन्तु क्या इसीलिए वे एकान्त-विरोधी हैं ? क्या वे एक-दूसरे का खंडन करती हैं अथवा एक दूसरे की पूर्णता का सम्पादन करती हैं ? यही प्रश्न है ? मैं जब छोटा-सा बालक था, तभी से मैंने इस प्रश्न पर विचार करना आरम्भ किया है तथा जीवन भर इसी की आलोचना करता आ रहा हूँ। सम्भवतः मेरे सिद्धान्त से आपका कोई उपकार हो जाए, इसी विचार से मैं आपके समक्ष उसे व्यक्त करता हूँ। मेरा विश्वास है कि वे परस्पर विरोधी नहीं हैं, अपितु परस्पर पूर्णता साधक हैं। प्रत्येक धर्म जैसे महान् सार्वभौमिक सत्य के एक-एक अंश को मूर्त्तिमान करके प्रस्फुटित करने के हेतु अपनी सम्पूर्ण-शक्ति को नियोजित कर रहा है। अतः यह योगदान का विषय है—वर्जन का नहीं, यही समझना होगा। एक-एक बड़े भाव को लेकर एक सम्प्रदाय के पश्चात् दूसरा सम्प्रदाय गठित हो रहा है। अब आदर्श का संयोग करना होगा। इसी तरह मानव-जाति उन्नति की ओर बढ़ती रहती है। सभी भ्रम से सत्य में उपनीत नहीं होता, परन्तु सत्य से ही सत्य में गमन करता है, निम्नतर सत्य से उच्चतर सत्य पर आरुढ़ होता है—परन्तु भ्रम से सत्य में नहीं गिरता। पुत्र सम्भवतः

पिता की अपेक्षा अधिक गुणवान् हुआ है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि पिता कुछ भी नहीं है। पुत्र के मध्य पिता तो है ही, परन्तु और भी कुछ है। आपका वर्त्तमान ज्ञान यदि आपकी बाल्यावस्था के ज्ञान से अधिक हो, तो आप कभी अपनी बाल्यावस्था को घृणा की दृष्टि से देखेंगे ? क्या आप अपनी अतीतावस्था की बात को "वह कुछ नहीं है," कहकर उड़ा देंगे ? क्या आप यह नहीं समझते हैं कि आपकी वर्त्तमान अवस्था उस बाल्यावस्था का ही ज्ञान है ?– केवल कुछ और अभिज्ञता द्वारा पुष्ट है !

अब यह भी सब जानते हैं कि एक ही वस्तु को भिन्न-भिन्न दृष्टि से देखने पर प्रायः विरुद्ध-सिद्धान्त पर उपनीत हुआ जा सकता है, परन्तु सभी सिद्धांत एक ही वस्तु को लक्ष्य करते हैं। मान लीजिए एक व्यक्ति सूर्य की ओर जा रहा है और यह जैसे-जैसे आगे बढ़ता जाता है, उतने ही भिन्न-भिन्न स्थानों से सूर्य का फोटोग्राफ लेता जाता है। जब वह व्यक्ति लौट आएगा, तब उसके पास सूर्य के बहुत से फोटोग्राफ होंगे। यदि वह उन्हें हमारे सामने रक्खे, तो हम यह देखेंगे कि उनमें से कोई भी दो फोटोग्राफ एक ही तरह के नहीं है। परन्तु इस बात को कौन अस्वीकार कर सकेगा कि ये सब फोटो एक ही सूर्य के हैं—केवल भिन्न-भिन्न ओर से लिए गए हैं ? चार कोने से किसी गिरजे के चार चित्र लेकर देखिए, वे कितने अलग-अलग दिखाई देंगे ! परन्तु वास्तव में वे किसी एक ही गिरजे की प्रतिकृति हैं। इसी तरह हम एक ही सत्य को अपने जन्म, शिक्षा तथा चारों ओर की अवस्थाओं के अनुसार भिन्न-भिन्न रूपों में देख रहे हैं। हम सत्य को ही देख रहे हैं; परंतु इन

सब अवस्थाओं के भीतर से उस सत्य का जितना दर्शन पाना सम्भव है, केवल उतना ही पा रहे हैं—उसे अपने हृदय द्वारा रञ्जित कर रहे हैं, अपनी बुद्धि द्वारा ही समझ रहे हैं, तथा अपने मन द्वारा धारण कर रहे हैं। हमारे साथ सत्य का जितना सम्बन्ध है, हम उसका जितना अंश ग्रहण करने में समर्थ हैं,—केवल उतना ही ग्रहण कर रहे हैं, इसीलिए मनुष्य-मनुष्य में भेद है। यहाँ तक कि कभी सम्पूर्ण विरुद्ध मत की भी सृष्टि होती है, फिर भी सभी उस सार्वजनीन सत्य के ही अन्तर्गत हैं।

अतः मेरी यह धारणा है कि सभी धर्म ईश्वर की अनन्त-शक्ति के केवल भिन्न-भिन्न प्रकाश हैं, और वे मनुष्यों का कल्याण साधन कर रहे हैं। उनमें से एक भी नहीं मरता, एक को भी नष्ट नहीं किया जा सकता। जिस तरह किसी प्राकृतिक-शक्ति को नष्ट नहीं किया जा सकता, उसी तरह इन आध्यात्मिक शक्तियों में से भी किसी का विनाश नहीं किया जा सकता। आप देखेंगे प्रत्येक धर्म जीवित है। समय के प्रभाव से वह केकल उन्नति अथवा अवनति की ओर अग्रसर हो सकता है। किसी समय तो उसके ठाट-वाट का दौरदौरा रहता है और किसी समय उसके ठाठ वाट का ह्रास भी हो सकता है। परन्तु उसकी आत्मा अथवा प्राण-वस्तु जो उसके पीछे उपस्थित है, वह कभी नष्ट नहीं हो सकती। प्रत्येक धर्म का जो चरम आदर्श है, वह कभी विनष्ट नहीं होता। अतः प्रत्येक धर्म ज्ञातभाव से आगे ही बढ़ता चला जा रहा है।

और वह सार्वभौमिक धर्म, जिसके सम्बन्ध में सब देश के दार्शनिकों ने तथा अन्य व्यक्तियों ने कितनी ही प्रकार

की कल्पनाएँ की हैं, पहले से ही विद्यमान है। वह यही है। जिस तरह सार्वजनीन भ्रातृभाव पहले से ही है, उसी तरह सार्वभौमिक धर्म भी है। आप लोगों में से जिन्होंने अनेक देशों में भ्रमण किया है, उनमें से किसने प्रत्येक जाति में भाई और बहिन को नहीं देखा ? मैंने पृथ्वी में सब जगह उन्हें देखा है। भ्रातृभाव पहले से ही विद्यमान है। केवल कुछ लोग ही ऐसे हैं, जो इसे न देखकर भ्रातृभाव के नए-नए सम्प्रदायों के लिए चिल्ला-चिल्लाकर उसे विशृङ्खल कर देते हैं। सार्वभौमिक धर्म भी विद्यमान है। पुरोहिती कर्म तथा अन्य लोग, जिन्होंने भिन्न-भिन्न धर्मों के प्रचार का भार स्वेच्छा से अपने कन्धों पर ले लिया है, यदि वे कृपा पूर्वक कुछ देर के लिए अपने प्रचार कार्य को बन्द कर दें, तो हमें यह ज्ञात हो जाएगा कि सार्वभौमिक धर्म पहले से ही विद्यमान है। वे ही निरन्तर उसके प्रकाश में बाधा डालते आ रहे हैं—क्योंकि इसी में उनका स्वार्थ है। आप देख रहे हैं कि सभी देशों के पुरोहित कट्टर होते हैं। इसका क्या कारण है ? बहुत कम पुरोहित ऐसे हैं, जो नेता बनकर जनसाधारण को मार्ग दिखाते हैं, उनमें से भी अधिकांश जनसाधारण के इशारों पर नाचते हैं और वे जनता के नौकर अथवा गुलाम होते हैं। यदि कोई कहे कि यह शुष्क है, तो वे भी कहेंगे, हाँ, शुष्क है। यदि कोई कहे, यह काला है, तो वे भी कहेंगे, हाँ काला है। यदि जनसाधारण उन्नत हो, तो पुरोहित भी उन्नत होने के लिए बाध्य होंगे। इसलिए पुरोहितों को गाली देने से पहले (पुरोहितों को गाली देना भी आजकल एक प्रथा-सी हो गई है।) हमें स्वयं को गाली देना उचित है। आप अपने योग्य ही व्यवहार पा

रहे हैं । यदि कोई पुरोहित नए-नए भावों द्वारा आपको उन्नति के पथ पर अग्रसर करना चाहे, तो उसकी क्या दशा होगी ? शायद उसके बाल-बच्चों को भूखा मरना पड़ेगा और फटे हुए वस्त्र पहिन कर रहना पड़ेगा । आप जिन सांसारिक नियमों को मान कर चलते हैं, वे भी उन्हें ही मान कर चलते हैं । वे कहते हैं—'यदि आप आगे बढ़ेंगे, तो हम भी आगे बढ़ेंगे ।' ऐसे भी दो-चार उन्नत तथा असाधारण लोग अवश्य हैं, जो लोक-मत की चिन्ता नहीं करते । वे सत्य की ओर दृष्टि रखते हुए एकमात्र सत्य को ही अपना लेते हैं । सत्य उनके समीप है—जैसे उसने उन पर अधिकार कर लिया हो तथा उनके लिए आगे बढ़ने के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय ही नहीं है । वे कभी पीछे नहीं देखते । फल यह होता है कि उन्हें लोग नहीं मिलते । केवल भगवान् ही उनके सहायक हैं, वे ही उनके पथ-प्रदर्शक-ज्योति हैं तथा वे उस ज्योति का ही अनुसरण करते जा रहे हैं ।

इस देश (अमेरिका) में एक मरमन (Mormon) से मेरी भेंट हुई थी । उन्होंने मुझे अपने मत में ले जाने के लिए अनेक प्रयत्न किए थे । मैंने उनसे कहा था—"आपके मत पर मेरी अत्यन्त श्रद्धा है, परन्तु कई विषयों में हम लोग एक मत नहीं हैं । मैं तो सन्यासी हूँ और आप बहु-विवाह के पक्षपाती हैं । भला, यह तो बताइए कि आप अपने मत के प्रचार के लिए भारतवर्ष में क्यों नहीं जाते ?" मेरी इन बातों से चकित होकर उन्होंने कहा—"यह क्या बात है, जब आप बहु-विवाह के पक्षपाती नहीं हैं और मैं हूँ, तब भी आप मुझे अपने देश में जाने के लिए क्यों कहते हैं ?" मैंने उत्तर दिया—"हाँ, मेरे देशवासी प्रत्येक धर्म के

सम्बन्ध में सुनते हैं, चाहे वह किसी भी देश से क्यों न आए ! मेरी इच्छा है कि आप भारतवर्ष में जाइए । क्योंकि, पहले तो हम लोग अनेक सम्प्रदायों की उपकारिता में विश्वास करते हैं, दूसरे कितने ही लोग ऐसे हैं, जो वर्त्तमान सम्प्रदायों में सन्तुष्ट नहीं हैं, अतः वे धर्म की किसी भी धारा के अनुयायी नहीं हैं । हो सकता है, उनमें से कुछ लोग आपके धर्म को ग्रहण कर लें ।" सम्प्रदायों की संख्या जितनी अधिक होगी, लोगों को धर्म-लाभ करने की उतनी ही अधिक सम्भावना होगी । जिस होटल में हर तरह का खाना मिलता है, वहाँ सब लोगों की क्षुधा-तृप्ति की सम्भावना होती है । इसीलिए, मेरी यह इच्छा है कि सब देशों में सम्प्रदायों की संख्या बढ़े । ऐसा होने से लोगों को धार्मिक जीवन का लाभ करने की सुविधा होगी । आप यह मत सोचिए कि लोग धर्म नहीं चाहते, मैं इस पर विश्वास नहीं करता । वे लोग जो कुछ चाहते हैं, धर्म-प्रचारक ठीक वही वस्तु उन्हें नहीं दे सकते हैं । जो लोग जड़वादी, नास्तिक अथवा अधार्मिक प्रमाणित हो चुके हैं, उन्हें भी यदि कोई ऐसा मनुष्य मिले, जो ठीक उनकी इच्छा के अनुसार उन्हें आदर्श दिखा सके, तो वे लोग भी समाज में सर्वश्रेष्ठ आध्यात्मिक-अनुभूति-सम्पन्न व्यक्ति हो सकेंगे । हम लोगों को जिस तरह बराबर खाने का अभ्यास है, उसी तरह हम खा सकते हैं । देखिए, हम लोग हिन्दू हैं, हम लोग हाथ से खाते हैं; आप लोगों की अपेक्षा हम लोगों की अँगुलियाँ अधिक चलती हैं । आप लोग ठीक इसी प्रकार से इच्छानुसार अपनी अँगुली को नहीं हिला सकते ! केवल भोजन का उदाहरण देना ही पर्याप्त नहीं है । आप लोगों को उसे अपने भावों

में भी ग्रहण करना होगा। इसी तरह केवल थोड़े से आध्यात्मिक भावों को देने से ही काम नहीं चल सकता। उन्हें इस तरह देना होगा, जिससे आप उन्हें ग्रहण कर सकें। वे ही यदि आपकी मातृभाषा—प्राणों से भी प्रिय भाषा—में व्यक्त किए जाँय, तो आप उनसे प्रसन्न होंगे। हमारी मातृभाषा में बात करने वाले यदि कोई सज्जन आकर हमें तत्त्व का उपदेश दें, तो हम उसे तुरन्त समझ लेंगे तथा बहुत दिनों तक स्मरण रख सकेंगे—यह बात बिल्कुल ठीक है।

इससे देखा जाता है, कितने भिन्न-भिन्न स्तर और प्रकृति के मानव-मन विद्यमान हैं—तथा धर्मों के ऊपर भी एक बड़ा भारी उत्तरदायित्व है। सम्भव है, कोई सज्जन दो-तीन मतों को जाहिर कर यह कह बैठें कि उन्हीं का धर्म सब लोगों के लिए उपयोगी है। वे अपने हाथ में एक छोटा-सा पिंजड़ा लिए हुए, ईश्वर के इस संसार रूपी चिड़ियाखाने में आकर यह कहने लगें—"ईश्वर, हाथी तथा सबको इसी पिंजड़े के भीतर प्रवेश करना होगा। आवश्यकता पड़ने पर हाथी के टुकड़े-टुकड़े काटकर, उन्हें इसके भीतर घुसाना होगा।" और शायद ऐसे भी सम्प्रदाय हैं, जिनमें कुछ अच्छे-अच्छे भाव विद्यमान हैं। वे कहते हैं—"हमारे सम्प्रदाय में सब सम्मिलित हों।" "परन्तु वहाँ सबके लिए स्थान तो है ही नहीं।" "कुछ चिन्ता नहीं, उन्हें काट-छाँट कर जैसे भी हो घुसालो।" "और यदि वे नहीं आएँ तो?" "तो वे अवश्य ही नरकगामी होंगे।"

मैंने ऐसा कोई प्रचारक अथवा सम्प्रदाय नहीं देखा, जो तनिक स्थिर होकर यह विचार करे कि जो लोग हमारी बात नहीं सुनते, उसका क्या कारण है? इसे न सोचकर

वे केवल लोगों को अभिशाप देते हैं—और यह कहते हैं, "लोग बड़े पाजी हैं।" वे एकबार भी यह नहीं सोचते—"लोग हमारी बात पर कान क्यों नहीं देते ? मैं उन्हें धर्म के सत्य को बताने में समर्थ क्यों नहीं होता ? मैं उनकी मातृभाषा में बातचीत क्यों नहीं करता ? मैं उनके ज्ञान-नेत्रों को खोलने में समर्थ क्यों नहीं होता ?" वास्तव में उन्हें यह सब भलीभाँति जानने की आवश्यकता है, और जब वे यह देखें कि लोग उनकी बात पर ध्यान नहीं देते, तब यदि किसी को गाली देने की भी आवश्यकता हो, तो पहले स्वयं को ही गाली देनी चाहिए। परन्तु लोगों का यह दोष सदैव ही बना रहता है। वे कभी भी अपने सम्प्रदाय को बड़ा बनाकर उसे सब लोगों के लिए उपयोगी बनाने का प्रयत्न नहीं करते।

इसलिए, 'इतनी संकीर्णता क्यों है ?' इसका कारण स्पष्ट दिखाई देता है—'अंश' स्वयं को 'पूर्ण' कहने का ही सदैव दावा करता है। क्षुद्र 'ससीम' वस्तु स्वयं को 'असीम' कह कर सदैव प्रकट कर रही है। छोटे-छोटे सम्प्रदायों की बात एक बार सोचकर देखिए—केवल कुछ शताब्दियों में ही भ्रान्त-मानव-मस्तिष्क द्वारा उनका जन्म हुआ है, और उसी पर वे स्पर्धा कर रहे हैं कि वे भगवान् के सम्पूर्ण अनन्त सत्य को जान गए हैं। मनुष्य कितने आत्मभरी हो गए हैं, वह इसी से ज्ञात हो जाता है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि ऐसे दावे सदैव ही निष्फल हुए हैं तथा ईश्वर की कृपा से वे सदैव ही निष्फल होंगे। विशेषकर इस विषय में मुसलमान लोग सबसे अधिक ऊँचे चढ़ गए थे। उन्होंने एक-एक पाँव आगे बढ़ने के लिए तलवार की सहायता ली थी,

– एक हाथ में क़ुरान और दूसरे हाथ में तलवार; "या तो इस्लाम धर्म ग्रहण करो अन्यथा मृत्यु को अपनाओ—अन्य कोई उपाय नहीं है।" इतिहास के सभी पाठक यह जानते हैं कि उनकी क्या भयानक उन्नति हुई थी—६०० वर्ष तक उनका कोई गतिरोध नहीं कर सका, परन्तु फिर ऐसा समय आया, जब उन्हें चीत्कार करके रोना पड़ा। अन्य कोई धर्म भी यदि ऐसा ही करे, तो उसकी भी यही दशा होगी। हम सब इस प्रकार केवल शिशु हैं। हम मानव प्रकृति की बात सदैव ही भूल जाते हैं। अपने जीवन-प्रभात में हम यह सोचते हैं कि हमारा अदृष्ट एक असाधारण भाव से गठित हो जाएगा तथा अपने इस विश्वास को हम किसी प्रकार भी दूर नहीं कर सकते; परन्तु जीवन-संध्या में हमारी चिन्ता अन्य रूप की ही हो जाती है। धर्म के संबंध में भी ठीक यही बात है। प्रारम्भिक अवस्था में जब वे कुछ विस्तृत होते हैं, तब यह सोचते हैं कि वे कुछ वर्षों के भीतर ही समस्त मानव-मन को बदल देंगे। वे बलपूर्वक अपने धर्म को दूसरों को ग्रहण कराने के लिए लोगों के प्राण लेते रहते हैं। बाद को जब वे अकृतकार्य होते हैं, तब उनकी आँखें खुलने लगती हैं। उस समय देखा जाता है कि वे केवल जिस उद्देश्य को लेकर कार्य-क्षेत्र में अवतीर्ण हुए थे, वह व्यर्थ सिद्ध हुआ है। और यही संसार के लिए विशेष कल्याण-कारक भी है।

एक बार विचार करके देखिए, यदि इन कट्टर सम्प्रदाओं में से कोई एक भी सम्पूर्ण संसार में फैल गया होता, तो आज मनुष्यों की क्या दशा होती? प्रभु को धन्यवाद है कि वे सफल नहीं हो सके। फिर भी प्रत्येक सम्प्रदाय

ही एक-एक महान्-सत्य को दिखा रहा है, प्रत्येक धर्म ही किसी एक विशेष सारवस्तु को—जो उसका प्राण अथवा आत्मा स्वरूप है—पकड़े हुए है। मुझे एक पुरानी कहानी याद आ रही है। कुछ राक्षस थे, वे मनुष्यों का संहार करते थे तथा और अनेक प्रकार से भी अनिष्ट करते थे, परन्तु उन्हें कोई मार नहीं सकता था। अन्त में एक आदमी को पता लगा कि उनका प्राण कुछ पक्षियों के अन्दर है, और जबतक वे पक्षी निरापद रहेंगे, तबतक उन्हें कोई भी नहीं मार सकेगा। हम सब लोगों का भी ठीक उसी प्रकार से एक-एक प्राण पक्षी है। उसी में हमारी प्राण-वस्तु है। हम सब का भी एक-एक आदर्श—एक-एक उद्देश्य है, जिसे कार्य में परिणत करना होगा। प्रत्येक मनुष्य इस प्रकार एक-एक आदर्श—एक-एक उद्देश्य का प्रतिमूर्ति स्वरूप है। और चाहे कुछ भी नष्ट क्यों न हो जाए, परन्तु जब तक वह आदर्श ठीक है—जबतक वह उद्देश्य अटूट है—तब तक किसी भी तरह से आपका विनाश नहीं हो सकता। सम्पत्ति आसकती है अथवा जासकती है, विपत्ति पहाड़ जैसी बड़ी हो सकती है, परन्तु यदि आप उस लक्ष्य को ठीक रक्खें, तो कोई आपका विनाश नहीं कर सकता। आप वृद्ध हो सकते हैं, यहाँ तक कि शतायु भी हो सकते हैं, परन्तु यदि वह उद्देश्य आपके मन में उज्ज्वल तथा सतेज रहे, तो आपका वध करने में कौन समर्थ हो सकता है? परन्तु जब वह आदर्श खो जाएगा, वह उद्देश्य विकृत हो जाएगा, तब फिर आपकी रक्षा नहीं हो सकती। पृथ्वी की समस्त सम्पत्ति तथा सम्पूर्ण-शक्ति मिलकर भी आपकी रक्षा नहीं कर सकती। और जाति क्या वस्तु है?—व्यष्टि की समष्टि

के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं ? इसीलिए प्रत्येक जाति का अपना एक उद्देश्य है—जो भिन्न-भिन्न जाति समूह की सुशृङ्खल अवस्थिति के लिए विशेष आवश्यक है। और जबतक उक्त जाति उस आदर्श को पकड़े रहेगी, तबतक किसी प्रकार भी उसका विनाश नहीं हो सकता है। परन्तु यदि वह जाति उक्त आदर्श का परित्याग कर, किसी अन्य लक्ष्य की ओर दौड़े, तो उसका जीवन अवश्य ही समाप्त हुआ समझना चाहिए, तथा वह कुछ ही दिनों में विलुप्त हो जाएगी।

धर्म के सम्बन्ध में भी ठीक ऐसी ही बात है। सभी पुराने धर्मों के आज तक जीवित रहने से यह प्रमाणित होता है कि उन्होंने अवश्य ही उस उद्देश्य को अटूट रक्खा है। उनके समुदय भ्रांत होने पर भी, उनमें समुदय विघ्न-बाधा होने पर भी, उनमें समुदय विवाद-विसंवाद होने पर, उनके ऊपर भाँति-भाँति के अनुष्ठान तथा निर्दिष्ट-प्रणाली की आर्वजना-स्तूप के संचित होने पर भी, उनमें से प्रत्येक का हृत्पिण्ड ठीक है—वह जीवित हृत्पिण्ड की भाँति स्पंदित हो रहा है—धक-धक कर रहा है। वे जिन महान् उद्देश्यों को लेकर आए हैं, उनमें से एक को भी नहीं भूले। उस उद्देश्य के सम्बन्ध में आलोचना करना भी क्या सुखप्रद है ? उदाहरण स्वरूप इस्लामधर्म की ही बात लीजिए। ईसाई मतावलम्बी इस्लामधर्म से जितनी अधिक घृणा करते है, उनकी अन्य किसी से नहीं। वे सोचते हैं, इतने निकृष्ट धर्म का कभी भी अभ्युदय नहीं हुआ। परन्तु देखिए, ज्योंही किसी आदमी ने इस्लामधर्म को ग्रेहण किया, त्योंही सब मुसलमानों ने उसकी पिछली बात को छोड़कर, उसे

'भाई' कहकर अपनी छाती से लगा लिया। कोई भी धर्म ऐसा नहीं कर सकता। यदि एक रैड-इण्डियन मुसलमान हो जाय, तो तुर्की के सुल्तान भी उसके साथ भोजन करने में आपत्ति नहीं करेंगे, और यदि वह शिक्षित तथा बुद्धिमान हो तो राजकार्य में भी कोई पद प्राप्त कर सकता है। परंतु इस देश में मैंने एक भी ऐसा गिरजा नहीं देखा, जहाँ गोरे तथा काले परस्पर घुटने टेककर प्रार्थना कर सकें। इस बात को विचार कर देखिए कि इस्लामधर्म अपने सब अनुयायियों को सम्भाव से देखता है। इसी से आप देखते हैं कि इस्लामधर्म की यह विशेषता तथा श्रेष्ठत्व है। कुरान में अनेक स्थान पर जीवन के विषय-सुख की बातें देखी जाती हैं; उसमें हानि नहीं है। इस्लामधर्म संसार में जिन बातों का प्रचार करने आया है, वह है यही वास्तविक भ्रातृ-भाव—जो इस्लाम धर्मावलम्बी एक-दूसरे के प्रति धारण करते हैं।

इस्लाम धर्म का वही सार तत्व तथा स्वर्ग है। जीवन तथा स्वर्ग की अन्य वस्तुओं के सम्बंध में जो धारणाएँ हैं, वे इस्लाम धर्म की अपनी नहीं हैं। वे अन्य धर्मों से ली गई हैं।

हिन्दूधर्म में एक जातीयभाव देखने को मिलेगा—वह है आध्यात्मिकता। अन्य किसी भी धर्म—संसार के अन्य किसी धर्म-पुस्तक-समूह में ईश्वर की संज्ञा निर्देश करने में इतना अधिक योग दिया गया हो, ऐसा दिखाई नहीं पड़ता। उन्होंने ऐसे भावों से आत्मा की संज्ञा निर्देश करने का प्रयत्न किया है, कि कोई पार्थिव संस्पर्श इसे कलुषित नहीं कर सकता। आत्मा अपार्थिव वस्तु है। तथा इस अर्थ से उसमें

कभी भी मानवीयभाव आरोपित नहीं किया जा सकता। उसी एकत्व की धारणा—सर्वव्यापी ईश्वर की उपलब्धि सर्वत्र ही प्रचारित हुई है। "वे स्वर्ग में वास करते हैं"—आदि युक्तियाँ हिंदुओं के निकट प्रलापोक्ति के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं हैं—वह मनुष्य द्वारा ईश्वर की मनुष्योचित गुणावली का आरोप मात्र है। यदि 'स्वर्ग' नामक कोई वस्तु है, तो वह अभी और यहीं विद्यमान है। अनंतकाल का एक मुहूर्त्त जैसा है, कोई अन्त मुहूर्त्त भी वैसा ही है। जो ईश्वर पर विश्वास करता है, वह अभी भी उनका दर्शन प्राप्त कर सकता है। हमारे मत से, कुछ उपलब्धि होने पर ही धर्म का आरम्भ होता है—कुछ मतों में विश्वास करना अथवा उसे युक्तियुक्त कहकर स्वीकार करना अथवा प्रकाश्य भाव से उसे अपना धर्म-मत व्यक्त करना—इनमें से कोई भी धर्म नहीं है। आप कह रहे हैं, "ईश्वर है?"—क्या आपने उन्हें देखा है? यदि कहें कि "नहीं है!" तब आपको उन पर विश्वास करने का क्या अधिकार है? और यदि आपको ईश्वर के अस्तित्व के सम्बंध में कोई संदेह हो, तो उन्हें देखने के लिए प्राणपण से प्रयत्न क्यों नहीं करते? आप संसार को त्याग कर इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए सम्पूर्ण जीवन अतिवाहित क्यों नहीं करते? त्याग तथा आध्यात्मिकता—ये दोनों ही भारत के महान् आदर्श हैं—और इनको जकड़े रहने के कारण ही उसकी इतनी मूलभ्रान्ति होने पर भी कुछ विशेष आता-जाता नहीं है।

ईसाइयों का प्रचारित मूलभाव भी यही है—"सतर्क रहो, प्रार्थना करो—क्योंकि ईश्वर का राज्य अत्यंत समीप है।" अर्थात् चित्त शुद्ध करके तैयार रहो। और यह भाव

कभी भी नष्ट नहीं हुआ । सम्भवतः आप लोगों को स्मरण है कि ईसाई लोग अज्ञानावस्था से ही, अत्यंत कुसंस्कारग्रस्त ईसाई देशों में भी दूसरों की सहायता करना, चिकित्सालय तैयार करना आदि सत्कार्यों द्वारा स्वयं को पवित्र करके, ईश्वर के आगमन की प्रतीक्षा कर रहे हैं । वे जितने समय तक इस लक्ष्य पर स्थिर रहेंगे, उतने दिनों तक उनका धर्म जीवित रहेगा ।

हाल ही में मेरे मन में एक आदर्श चित्र जाग उठा है । सम्भवतः यह केवल स्वप्न ही हो । पता नहीं कि संसार में यह कभी कार्य रूप में परिणत होगा अथवा नहीं ? कठोर संसार में रहकर मरने की अपेक्षा कभी-कभी स्वप्न देखना भी अच्छा है । बड़े-बड़े सत्य, वे यदि स्वप्न हों, तो भी अच्छे हैं—निकृष्ट संसार की अपेक्षा वे श्रेष्ठ हैं । अतः एक स्वप्न देखना भी अच्छी बात है ।

आप जानते हैं कि मन के कई स्तर हैं । आप भी सम्भवतः सांसारिक-विषयों के स्वाभाविक ज्ञान में विश्वास करने वाले एक युक्तिवादी हैं । आप आचार, अनुष्ठानों की चिंता नहीं करते । आप युक्ति द्वारा परीक्षित ऐसी बातों पर विश्वास करना चाहते हैं, जिनमें कल्पना का तनिक भी अवसर नहीं । इधर प्यूरिटन तथा मुसलमान लोग हैं—ये अपने उपासना-स्थल में चित्र अथवा मूर्त्ति नहीं रखने देंगे । अच्छी बात है । एक अन्य प्रकार के लोग भी हैं, वे तनिक अधिक शिल्प-प्रिय हैं । ईश्वरोपासना करने में भी उन्हें शिल्पकला की आवश्यकता पड़ती है । वे उसके भीतर भाँति-भाँति की सरल रेखाएँ, वक्ररेखाएँ, वर्ण तथा रूप आदि के सौंदर्य का प्रवेश कराना चाहते हैं—उन्हें पुष्प, धूप, दीप आदि पूजा के

सब तरह के वाह्य उपकरणों की आवश्यकता पड़ती है। आप ईश्वर को जिस प्रकार युक्ति-विचार द्वारा समझने में समर्थ होते हैं, वे भी उसी तरह उन्हें उन सब मूर्त्तियों के भीतर समझने में समर्थ होते हैं। एक और तरह के लोग भी हैं। वे हैं—प्रेमिक। उनका प्राण ईश्वर के लिए व्याकुल है, ईश्वर की पूजा तथा स्तव-स्तुति के अतिरिक्त उनमें अन्य कोई भाव नहीं है। उसके पश्चात् हैं—ज्ञानी। वे इन सबके बाहर रहकर उनका उपहास करते हैं तथा मन में सोचते हैं कि ये लोग कैसे मूर्ख हैं--ईश्वर की कैसी क्षुद्र धारणाएँ करते हैं।

वे एक-दूसरे का उपहास कर सकते हैं, परन्तु इस संसार में सबके लिए एक स्थान है। इस सब विभिन्न मतों के लिए विभिन्न साधनाओं की आवश्यकता है। यदि आदर्श-धर्म कहकर कोई बात हो, तो उसे उदार तथा विस्तृत होना उचित है, ताकि वह उन विभिन्न मनों के लिए उपयोगी खाद्य जुटा सके। उस ज्ञान को दार्शनिक विचारों की दृढ़ भित्ति, उपासक को भक्त हृदय, अनुष्ठानिक को उच्चतम प्रतीकोपसनालभ्य समुदय भाव, कवि को जितना हो सके हृदय का उच्छ्वास तथा अन्याय-प्रकृति-सम्पन्न-व्यक्तियों को अन्यान्य-भाव जुटाने के लिए उपयोगी होना पड़ेगा। इस तरह उदार-धर्म की सृष्टि के लिए, हम लोगों को धर्म-समूह के अभ्युदय-काल में लौट जाना होगा तथा उन सबको सत्य कहकर ग्रहण करना होगा।

अतः ग्रहण (Acceptance) ही हमारा मूल मंत्र होना चाहिए—वर्जन नहीं। केवल परधर्म-सहिष्णुता (Toleration) नहीं—वह अनेक समय नास्तिकता का

नामान्तरमात्र होती है, अतएव मैं उस पर विश्वास नहीं करता । मैं ग्रहण में विश्वास करता हूँ । मैं परधर्म-सहिष्णु क्यों होने लगा ? परधर्मसहिष्णु कहने से मैं यह समझता हूँ कि कोई धर्म अन्याय कर रहा है और मैं उसे कृपापूर्वक बचाए हुए हूँ । "तुम जैसा अथवा मुझ जैसा कोई व्यक्ति किसी को कृपापूर्वक बचा सकता है"—यह समझना ही क्या ईश्वर के प्रति दोषारोपण नहीं है ? अतीत के धर्म-सम्प्रदाय-समूह को सत्य कहकर ग्रहण करके मैं उन सबके साथ ही आराधना करूँगा । जिस भाव से प्रत्येक सम्प्रदाय ईश्वर की आराधना करता है, मैं उनमें से प्रत्येक के साथ ठीक उसी भाव से आराधना करूँगा । मैं मुसलमानों के साथ मस्जिद में जाऊँगा, ईसाइयों के साथ गिरजे में जा कर क्रूसविद्ध ईसा के सम्मुख घुटने टेकूँगा, बौद्धों के मन्दिर में प्रवेश करके बुद्ध तथा संघ की शरण लूँगा तथा वन में जाकर हिन्दुओं के समीप बैठकर ध्यान में निमग्न हो उन्हीं की भाँति सबके हृदय को उद्भासित करने वाली ज्योति के दर्शन करने में सचेष्ट होऊँगा । केवल इतना ही नहीं, जो पीछे आएँ, उनके लिए भी हम अपने हृदय को खुला रखेंगे । क्या ईश्वर की पुस्तक समाप्त हो गई ?—अथवा वह अभी भी क्रमशः प्रकाशित हो रही है ? संसार की यह आध्यात्मिक अनुभूति एक अद्भुत-पुस्तक है । बाइबिल, वेद, कुरान तथा अन्यान्य धर्म-ग्रन्थ-समूह जैसे उसी पुस्तक के एक-एक पृष्ठ हैं तथा उसके असंख्य पृष्ठ अभी भी अप्रकाशित हैं । मेरा हृदय उन सबके लिए खुला रहेगा । हम वर्त्तमान में तो हैं ही, परन्तु अनन्त-भविष्यत् की भाव-राशि ग्रहण करने के लिए भी हमें प्रस्तुत रहना पड़ेगा । अतीत में जो कुछ भी हुआ

है, उस सब को हम ग्रहण करेंगे; वर्त्तमान ज्ञान-ज्योति का उपभोग करेंगे तथा भविष्यत् में जो उपस्थित होंगे, उन्हें ग्रहण करने के लिए भी हृदय के सभी द्वारों को खुला रखेंगे। अतीत के ऋषिकुल को प्रणाम, वर्त्तमान के महापुरुषों को प्रणाम तथा भविष्यत् में जो-जो आएँगे, उन सबको भी प्रणाम।

भारत का सनातन धर्म

संसार के किसी भाग में जब कभी किसी वस्तु की चाह होती है, तब वह वहाँ जाने तथा उसे नया-जीवन प्रदान करने के लिए अपना मार्ग स्वयं ढूँढ़ निकालती है। यह बात भौतिक संसार के लिए भी सत्य है तथा आध्यात्मिक-राज्य के लिए भी सत्य है। यदि संसार के किसी भी भाग में आध्यात्मिकता रहे और किसी अन्य भाग में उसका अभाव हो, तो फिर चाहे हम जान-बूझकर उसके लिए प्रयत्न करें अथवा न करें; जहाँ धर्म का अभाव है, वहाँ जाने के लिए वह (आध्यात्मिकता) अपना मार्ग स्वयं ढूँढ़ निकालती है और इस प्रकार सामञ्जस्य-स्थापना करती है। मनुष्य-जाति के इतिहास में हम यह पाते हैं कि एक या दो बार नहीं, अपितु बार-बार प्राचीन भारत के भाग्य का यही निर्णय हुआ है कि उसे संसार को आध्यात्मिकता की शिक्षा देनी पड़ी है। और इस प्रकार हम देखते हैं कि जब किसी जाति के दिग्व-

विजय द्वारा अथवा व्यवसाय की प्रधानता के कारण संसार के भिन्न-भिन्न भाग एकसूत्र में बँधे तथा संसार के एक कोने से दूसरे कोने तक दान का भडार खुल पड़ा—एक जाति के लिए दूसरी जाति को कुछ देने का अवसर प्राप्त हुआ, तब प्रत्येक जाति ने अन्य जातियों को राजनीतिक, सामाजिक अथवा आध्यात्मिक; जिसके पास जो भाव थे, दे दिए। सम्पूर्ण मनुष्य-जाति के ज्ञान-भण्डार को भारत ने आध्यात्मिकता तथा दर्शन का ही दान दिया है। फारस के साम्राज्य के उदय से बहुत पूर्व ही वह इस प्रकार का दान दे चुका था। फारस साम्राज्य के उदयकाल में भी उसने दूसरी बार ऐसा दान किया। यूनान की प्रभुता के समय उसका तीसरा दान था तथा अँग्रेजों की प्रधानता के समय में इस चौथी बार भी वह विधि के उसी विधान को पूरा कर रहा है।। जिस प्रकार संघ-स्थापना की पश्चिमी कार्य प्रणाली तथा बाहरी सभ्यता के भाव हमारे देश की नस-नस में समा रहे हैं—चाहे हम उन्हें ग्रहण करें अथवा न करें, उसी प्रकार भारत की आध्यात्मिकता तथा दर्शन पाश्चात्य देशों को प्लावित कर रहे हैं। इस गति को कोई रोक नहीं सकता। और हम भी पश्चिम की जड़वाद-प्रधान सभ्यता का पूरा प्रतिरोध नहीं कर सकते। सम्भव है, उसका कुछ अंश हमारे लिए अच्छा हो तथा आध्यात्मिकता का कुछ अंश पश्चिम के लिए लाभदायक हो। सामञ्जस्य की रक्षा इसी प्रकार हो सकेगी। यह बात नहीं है कि प्रत्येक विषय में हमें पश्चिमवालों से ही सीखना चाहिए अथवा पश्चिम वालों को जो कुछ सीखना है, उसे वे हमीं से सीखें; परंतु प्रत्येक ने शताब्दियों से, भिन्न-भिन्न जातियों में सामञ्जस्य-

स्थापना अथवा एक आदर्श-संसार के जो-जो स्वप्न देखे हैं, उनकी पूर्ति के लिए प्रत्येक के पास जो कुछ हो, उसे भावी संतति के हाथों में सौंप देना चाहिए। ऐसा आदर्श-संसार में कभी आएगा अथवा नहीं,—मैं नहीं जानता; समाज कभी ऐसी पूर्णता तक पहुँच सकेगा, इस सम्बन्ध में मुझे को संदेह हो रहा है; परन्तु चाहे ऐसा हो अथवा न हो, हममें से प्रत्येक को इसी भाव को लेकर काम करना चाहिए, ताकि वह संगठन कल ही हो जाय तथा प्रत्येक मनुष्य को यही सोचना चाहिए कि यह कार्य उसी पर निर्भर है। हममें से प्रत्येक को यही विश्वास रखना चाहिए कि संसार के अन्य सभी लोगों ने अपना-अपना कार्य पूरा कर डाला है, एकमात्र मेरा कार्य ही शेष रह गया है तथा जब मैं अपना कार्य-भाग पूरा कर लूँगा, तभी संसार सम्पूर्ण होगा। यदि हमें अपने ऊपर कोई दायित्व लेना है, तो वह यही है।

वर्तमानकाल में भारतवर्ष में धर्म का प्रबल पुनरुत्थान हो रहा है। यह अत्यन्त आनन्द की बात है। परन्तु साथ ही इसमें विपत्ति की भी आशंका है। क्योंकि, धर्मोदय के साथ-साथ उसमें घोर कट्टरता भी आ जाया करती है तथा कभी-कभी तो यह कट्टरता इतनी बढ़ जाती है कि जिन लोगों द्वारा यह धर्म का अभ्युत्थान साधित होता है, वे भी उसे रोकने में असमर्थ हो जाते हैं, उसका नियमन नहीं कर पाते। अतः पहले से ही सावधान रहना चाहिए। हमें मार्ग के बीचों-बीच चलना चाहिए। एक ओर कुसंस्कारों से भरा हुआ प्राचीन-समाज है और दूसरी ओर है जड़वाद—यूरोप के भाव—नास्तिकता तथा ऐसे ही संस्कार, जो पश्चिमी उन्नति के मूल तक में समाए हुए हैं। हमें इन दोनों से बहुत बच कर चलना पड़ेगा। प्रथम तो हम पश्चिमी हो ही

नहीं सकते, इसलिए पश्चिम वालों की नक़ल करना व्यर्थ है। मानलीजिए आप पश्चिम वालों का पूर्णरूपेण अनुकरण करने में सफल हो गए,—तो उसी समय आपकी मृत्यु भी अनिवार्य है, फिर आप में जीवन का लेश भी नहीं रह जाएगा। परन्तु ऐसा होना असम्भव है। समय की प्रारम्भिक अवस्था से, मनुष्य-जाति के इतिहास में लाखों वर्षों से एक नदी हिमालय से निरंतर बहती चली आ रही है। क्या तुम उसे धक्के लगाकर उसके उद्गम स्थान हिमालय के तुषारमण्डित शिखर पर ले जाना चाहते हो? यदि यह सम्भव भी हो, तो भी तुम यूरोपियन नहीं हो सकते। यदि कुछ शताब्दियों की शिक्षा का संस्कार छोड़ना यूरोपियनों के लिए तुम असम्भव समझते हो, तो सैकड़ों शताब्दियों के संस्कार छोड़ना तुम्हारे लिए कब संभव होगा? नहीं, ऐसा कभी नहीं हो सकता। हमें यह भी याद रख लेना चाहिए कि हम प्रायः जिन्हें अपना धर्म विश्वास कहते हैं, वे हमारे गाँव के छोटे-छोटे देवताओं पर आधारित हैं अथवा ऐसे ही कुसंस्कारों से पूर्ण देशाचार मात्र हैं। ऐसे देशाचार असंख्य हैं तथा वे एक दूसरे के विरोधी हैं। हम इनमें से किसको मानें और किसको न मानें? उदाहरण के लिए, दक्षिण का कोई ब्राह्मण यदि किसी दूसरे ब्राह्मण को मांस का एक ग्रास खाते हुए देखे, तो वह भय के मारे सिकुड़ जाता है, परन्तु आर्यावर्त के ब्राह्मण महाप्रसाद के बड़े भक्त हैं वे पूजा के लिए सैकड़ों बकरों की बलि चढ़ा देते हैं। यदि तुम अपने देशाचार को सामने रक्खोगे, तो वे भी अपने देशाचारों को सामने लाएँगे। सम्पूर्ण भारत में सैकड़ों आचार हैं, परन्तु वे अपने ही स्थान में सीमाबद्ध है। सबसे बड़ी भूल यही होती है कि अज्ञ साधारणजन सदैव

अपने प्रान्त के आचार को ही हमारे धर्म का सार समझ लेते हैं ।

इसके अतिरिक्त, इससे बड़ी एक और भी कठिनाई है । हम अपने शास्त्रों में दो प्रकार के सत्य देखते हैं, एक की नींव मनुष्य के नित्य स्वरूप पर पड़ी है—उसकी विचार परम्परा परमात्मा, जीवात्मा तथा प्रकृति के सार्वकालिक सम्बन्ध से होती है । दूसरे प्रकार का सत्य किसी देश, काल या अवस्था विशेष पर टिका हुआ है । पहला सत्य मुख्यत: वेदों अथवा श्रुतियों में संकलित है तथा दूसरा स्मृतियों एवं पुराणों में । हमें याद रखना चाहिए कि प्रत्येक समय में हमारे चरमलक्ष्य तथा मुख्यप्रमाण वेद ही रहे हैं । यदि किसी पुराण का कोई अंश वेदों के अनुकूल न हो, तो हमें उतने अंश का निर्दयतापूर्वक परित्याग कर देना चाहिए । हम यह भी देखते हैं कि सभी स्मृतियों की शिक्षाएँ अलग-अलग हैं । एक स्मृति कहती है—"यही देशाचार है, इस युग में इसी का अनुशासन मानना चाहिए ।" दूसरी स्मृति इसी युग में एक अन्य आचार की पीठ ठोकती है । कोई स्मृति सत्ययुग तथा कलियुग के आचारों में भेद बताती है । सब स्मृतियों का बस यही हाल है । तुम्हारे लिए इस समय वही सत्य सबसे बढ़कर है, जो हर समय के लिए सत्य है, जो मनुष्य की प्रकृति पर प्रतिष्ठित है, जिसका परिवर्त्तन तबतक नहीं होगा, जबतक कि मनुष्य के शरीर में में प्राण रहेंगे । परन्तु स्मृतियाँ तो प्राय: स्थानीय परिस्थिति एवं अवस्था-भेद के अनुशासन को बतलाती हैं तथा समयानुसार बदलती जाती हैं । तुम्हें यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि यद्यपि सामाजिक-प्रथा बदलती जाती है, फिर भी

इससे यह नहीं समझना चाहिए कि धर्म ही डूब गया है। स्मरण रक्खो, ये आचार-प्रथाएँ चिरकाल से ही बदलती आई हैं। इसी भारत में एक समय ऐसा भी था, जब कोई ब्राह्मण मांस खाए बिना ब्राह्मण ही नहीं रह सकता था। तुम वेद पढ़ो, उसमें देखोगे, जब कोई सन्यासी अथवा राजा अथवा बड़ा आदमी घर में आता था, तब बकरों और बैलों के मस्तक धड़ से किस प्रकार अलग किए जाते थे! बाद में धीरे-धीरे लोगों ने यह समझा कि हम कृषिजीवी मनुष्य हैं, अतः अच्छे-अच्छे बैलों को मारना हमारे लिए नाश का कारण होगा। इसलिए इस हत्या का निषेध कर दिया गया तथा गौवध के विरोध में तीव्र-आन्दोलन उठाया गया। पहिले ऐसे आचार प्रचलित थे, जिन्हें हम अब वीभत्स मानते हैं। जब समय का परिवर्त्तन होगा, तब वेद स्मृतियाँ नहीं रहेंगी तथा उनके स्थान पर दूसरी स्मृतियों की योजना की जाएगी। विशेष ध्यान देने योग्य केवल एक बात है, और वह यह है कि वे चिर-कालिक सत्य होने के कारण सदैव समभाव से विद्यमान रहते हैं, परन्तु स्मृतियों की प्रधानता युग के परिवर्त्तन के साथ ही जाती रहती है। ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता जाएगा, त्यों-त्यों स्मृतियों की प्रमाणिकता भी लुप्त होती जाएगी तथा ऋषिगण आविर्भूत होकर समाज को पहिले से अच्छे मार्ग पर ले जाएँगे। उस समय के लिए जिस बात की आवश्यकता होगी तथा जिसके बिना समाज का जीवन असम्भव हो जाएगा, वे लोग आकर वही पथ तथा कर्त्तव्य समाज को दिखा देंगे। इस प्रकार हमें इन दोनों विघ्नों से बच कर चलना होगा तथा मुझे आशा है, हममें से प्रत्येक का हृदय इतना उदार होगा

तथा साथ ही इतना विश्वास एवं दृढ़ निष्ठा भी होगी कि तुम लोग मेरे कथन का मर्म समझ सकोगे—यह समझ सकोगे कि मेरा उद्देश्य सभी को अपनाना है, किसी का तिरस्कार करना नहीं हैं। मैं 'कट्टरता' वाली निष्ठा भी चाहता हूँ तथा जड़वादियों का उदार भाव भी चाहता हूँ। हृदय-समुद्र की भाँति गम्भीर तथा आकाश जैसा उदार होना चाहिए। हमें ऐसे ही हृदय की आवश्यकता है। हमें संसार की किसी भी उन्नत जाति की भाँति उन्नतिशील होना चाहिए तथा अपने चिरकाल के अर्जित संस्कारों के प्रति वही श्रद्धा रखनी चाहिए, जो केवल हिन्दुओं में ही आ सकती है। सीधी-सी बात यह है कि पहिले हमें प्रत्येक विषय का मुख्य तथा गौण भेद समझ लेना चाहिए। मुख्य सार्वकालिक है, गौण का मूल्य किसी विशेष समय तक होता है, उस समय के पश्चात् यदि उसमें कोई परिवर्त्तन न किया जाय तो वह भयानक हो जाता है। मेरे कहने का यह उद्देश्य नहीं है कि तुम अपने प्राचीन आचारों तथा पद्धतियों की निन्दा करो—नहीं, ऐसा बिल्कुल मत करो। उनमें अत्यंत हीन आचार को भी तिरस्कार की दृष्टि से नहीं देखना चाहिए। किसी की निन्दा मत करो, क्योंकि जो प्रथा इस समय वास्तव में बुरी लग रही है, अतीत-काल में कभी वही जीवनप्रद भी थी। अतः उसका अभिशाप द्वारा बहिष्कार करना उचित नहीं है, परन्तु धन्यवाद देकर तथा कृतज्ञता प्रदर्शित करते हुए उसे अलग करना उचित है; क्योंकि हमारी जाति की रक्षा के लिए किसी समय उसने भी प्रशंसनीय कार्य किया था। हमें यह भी याद रखना चाहिए कि यह काम जिन्होंने किया, वे कोई वीर अथवा राजा नहीं थे,

वे ऋषि थे। और ऋषि कौन हैं ? उनके सम्बन्ध में उपनिषदें कहती हैं, ऋषि कोई साधारण मनुष्य नहीं हैं, वे मन्त्र-द्रष्टा हैं। ऋषि वे हैं, जिन्होंने धर्म को प्रत्यक्ष किया है, जिनके निकट धर्म केवल पुस्तकों का अध्ययन नहीं है, न युक्तिजाल ही है और न व्यवासायिक-विज्ञान अथवा वाग्विवतंडा ही है; वह है प्रत्यक्ष अनुभव—अतीन्द्रिय सत्य से प्रत्यक्ष सम्बन्ध, जहाँ पहुँचकर मनुष्य संसार के छाया दृश्यों को पार कर जाता है। यही ऋषित्व है तथा यह ऋषित्व किसी आयु अथवा समय अथवा किसी सम्प्रदाय अथवा जाति की अपेक्षा नहीं रखता। वात्स्यायन कहते हैं—"सत्य का साक्षात्कार करना होगा तथा यह स्मरण रखना होगा कि हममें से प्रत्येक को ऋषि होना है। साथ ही हमें अगाध आत्म-विश्वास-सम्पन्न भी होना चाहिए। हमीं लोग समस्त संसार में शक्ति का संचार करेंगे, क्योंकि सब शक्तियाँ हम में ही विद्यमान हैं।" हमें धर्म का प्रत्यक्ष दर्शन करना होगा, उसकी उपलब्धि करनी होगी, तभी ऋषित्व की उज्ज्वल-ज्योति से पूर्ण होकर हम महापुरुष के पद को प्राप्त कर सकेंगे। उस समय हमारे मुँह से जो वाणी निकलेगी, वह अव्यर्थ तथा अमोघ-शक्ति से परिपूर्ण होगी। उस समय हमें किसी को अभिशाप देने की आवश्यकता नहीं रह जाएगी, किसी की निन्दा अथवा किसी के साथ विरोध करने की आवश्यकता भी नहीं होगी। उस समय पाप स्वयं ही हमारी दृष्टि से दूर हो जाएगा। यहाँ जितने मनुष्य उपस्थित हैं, उनमें से प्रत्येक को अपनी तथा दूसरों की मुक्ति के लिए 'ऋषित्व' प्राप्त करने में परम प्रभु परमात्मा सहायता प्रदान करें।

हिन्दू धर्म के साधारण आधार *

❀

यह वही भूमि है जो पवित्र आर्यावर्त में पवित्रतम मानी जाती है। यह वही ब्रह्मावर्त है, जिसका उल्लेख हमारे महर्षि मनु ने किया है। यह वही स्थल है, जहाँ से आत्मतत्व-ज्ञान की प्रबल-आकांक्षा एवं प्रबल-अनुराग स्रोत का उद्गम हुआ है। उसी स्रोत ने आगे चलकर संसार को प्लावित कर दिया तथा इतिहास इस बात का साक्षी है। यह वही भूमि है, जहाँ इसकी वेगवती नदियों की भाँति आध्यात्मिक महत्वकाँक्षाएँ उत्पन्न हुई हैं तथा वे सभी क्रमशः एकाधार में सम्मिलित होकर शक्ति सम्पन्न हुई हैं तथा अन्त में सम्पूर्ण संसार के भीतर फैल कर उन्होंने अपने गम्भीरनाद से अपनी महती-शक्तियों की घोषणा की है। यह वही वीर भूमि है, जिसने भारत पर होने

---

* यह व्याख्यान स्वामीजी ने लाहौर में सन् १८९७ ई० में दिया था।

वाले बाहरी असभ्य शत्रुओं के आक्रमणों को सबसे पहले अपनी छाती पर सहा है। यह वही भूमि है, जिसने इतने दुःख-कष्टों तथा यातना-यंत्रणाओं को सहकर भी अपना गौरव, अपना तेज नहीं गँवाया है। यहीं पर अपेक्षाकृत आधुनिक समय में दयालु नानक ने प्रकट होकर अपूर्व विश्व प्रेम का प्रचार किया है। यह वही भूमि है, जहाँ उस महामना व्यक्ति के विशाल वक्षस्थल के द्वार खुले थे तथा वे अपनी दोनों भुजाएँ फैला कर समस्त संसार को केवल हिन्दुओं को ही नहीं, मुसलमानों तक को—गले लगाने के लिए दौड़े थे। यहीं पर हमारी जाति के अन्तिम-चिह्न स्वरूप परन्तु महामहिमान्वित गुरु गोविन्दसिंह ने जन्म लिया था, जिन्होंने अपना तथा अपने प्राणों से बढ़ कर प्रियजनों का रक्त बहाया। इतना ही नहीं जिनके लिए उन्होंने यह रक्त की नदी बहाई, जब वे ही उनसे अलग होगए, तब वे मर्माहत सिंह की भाँति दाक्षिणात्य की ओर चले गए। वहाँ निर्जन वन में वास कर, देश के प्रति एक भी अभिशाप वचन न कहकर, तनिक भी असंतोष प्रकट किए बिना, शान्तिपूर्वक इस लोक से प्रयाण कर गए।

हे पंचनद देश की संतानो! यहाँ अपने इस प्राचीन देश में, मैं तुम्हारे सामने उपदेशक की भाँति खड़ा नहीं हुआ हूँ। मेरे पास तुम्हें शिक्षा देने योग्य ज्ञान बहुत ही थोड़ा है। मैं देश के पूर्वी भाग से इस पश्चिमी भाग के भाइयों से वार्तालाप करने के लिए, पारस्परिक भावों का मिलान करने के लिए ही आया हूँ। मैं यहाँ और वहाँ की भिन्नताओं को देखने के लिए नहीं आया, अपितु, मैं यह ढूँढ़ने आया हूँ कि यहाँ और वहाँ की मिलन-भूमि कौन-सी

है । मैं यहाँ यह जानने के लिए आया हूँ कि वह कौन-सा आधार है, जिसके ऊपर हम और आप सदैव के लिए एक सूत्र में बँधकर रह सकेंगे । जो वाणी अनन्तकाल से आशा की बात सुन रही है, वह किस नींव पर प्रतिष्ठित होने पर प्रबल-से-प्रबलतर हो सकेगी । मैं यहाँ आया हूँ, किसी वस्तु को गढ़ने के सम्बन्ध में परामर्श करने के लिए—न कि किसी वस्तु को तोड़ने-फोड़ने की सम्मति देने के लिए ।

अब समालोचनाओं का समय नहीं है । अब हम लोग रचनात्मक कार्य करने की बाट देख रहे हैं । संसार में समय-समय पर समालोचना करने का, अपितु अत्यन्त तीखी आलोचना करने का अवसर भी आता अवश्य है, परन्तु वह बहुत ही थोड़े समय के लिए आता है । अनन्तकाल के लिए कार्य है—सङ्गठन—उन्नति का प्रयत्न करना; केवल समालोचना अथवा विनाश करना नहीं । पिछले सौ वर्षों से हमारे देश में सब जगह समालोचनाओं की बाढ़-सी आ गई है । पाश्चात्य-विज्ञान का तीव्र-आलोक हमारे यहाँ के अन्धकारमय स्थानों में पड़ने के कारण हमारे गली-कूंचों तथा कोनों ने सर्वसाधारण जनता की दृष्टि को अन्यान्य-स्थानों की अपेक्षा अपनी ओर अधिक आकर्षित कर लिया है । परिणामतः देश में सर्वत्र सत्य तथा न्यायानुरागी श्रेष्ठ महात्माओं का उत्थान हुआ । उनके हृदय में अनन्त-स्वदेशप्रेम तथा अपने धर्म एवं ईश्वर के प्रति प्रबल अनुराग विद्यमान था, और चूँकि ये महात्मा अपने देश से अत्यंत प्रगाढ़ प्रेम रखते थे, अतः उन्होंने जो कुछ बुरा देखा, उसकी अत्यंत कड़ी समालोचना करनी आरम्भ करदी । इन अतीतकाल के महात्माओं को धन्यवाद है, उन्होंने देशवासियों का अत्यंत

उपकार किया है। परंतु आज एक महावाणी हमें पुकार कर कह रही है—समालोचना बहुत हो चुकी, दोष दिखावा बहुत हो चुका, अब उसका काम नहीं है। अब सङ्गठन करने की आवश्यकता है—अपनी समस्त बिखरी हुई शक्तियाँ केन्द्रीभूत करने तथा उस सम्मिलित शक्ति की सहायता से जो जातीय गति सैकड़ों शताब्दियों से अवरुद्धप्रायः हो गई है, उसे आगे बढ़ाने का काम है। घर की सफाई का काम समाप्त हो चुका, अब उसमें रहने की आवश्यकता है। आर्य संतानो ! मार्ग साफ हो गया, अब तुम आगे बढ़ो।

प्यारे भाइयो ! मेरा आपके सामने आने का उद्देश्य यही है और मैं आपसे प्रारम्भ में ही यह कह देना चाहता हूँ कि मैं किसी दलबंदी अथवा सम्प्रदाय-विशेष का व्यक्ति नहीं हूँ। मेरी दृष्टि में सभी सम्प्रदाय महान् हैं। मैं उन सबको प्रेम की दृष्टि से देखता हूँ तथा मैंने जीवन भर यही ढूँढ़ने का प्रयत्न किया है कि उनमें कौन-सी बात अच्छी और सच्ची है। अतः मेरा यह विचार है कि मैं आज की रात आप लोगों के समक्ष कुछ ऐसी बातें रखूँगा, जिन पर हम सभी एक मत हैं। और, यदि सम्भव हुआ, तो हम कोई ऐसी सम्मिलिन-भूमि ढूँढ़ निकालने का प्रयत्न भी करेंगे। और, यदि ईश्वर की कृपा से हमें वह भूमि प्राप्त हो गई, तो हमें उस पर तुरंत ही पहुँचकर काम आरम्भ कर देना होगा। हम हिंदू हैं। मैं इस 'हिन्दू' शब्द का कोई बुरा अर्थ नहीं लगता। और जो लोग इस शब्द का कोई बुरा अर्थ समझते हैं, मैं उनसे सहमत भी नहीं हूँ। पुराने समय में इस 'हिन्दू' शब्द द्वारा 'सिन्धुनद' के उस पार रहने वालों का अर्थ समझा जाता था। आज जो लोग

हमें घृणा की दृष्टि से देखते हैं, उनमें से अधिकांश इस शब्द का बुरा अर्थ किया करते हैं; परंतु नाम के अच्छा अथवा बुरा होने से कुछ आता-जाता नहीं है। इसकी अच्छाई अथवा बुराई पूरी तरह से हम लोगों पर ही निर्भर करती है। 'हिन्दू' नाम का सब प्रकार से महत्वपूर्ण तथा सब तरह से आध्यात्मिक विषय का द्योतक होना अथवा उसका सदैव घृणासूचक बने रहना, उससे किसी पददलित, धर्मभ्रष्ट तथा नीच जाति का बोध होना—ये दोनों ही बातें हमारे ऊपर निर्भर करती हैं। अब यदि कोई 'हिन्दू' नाम से बुरा समझा जाता है, तो समझा जाने दो। आओ, हम अपने कार्यों तथा आचरणों द्वारा संसार को यह दिखाने को तैयार हो जाँय कि समस्त संसार की कोई भी भाषा इससे ऊँचे, इससे महान् शब्द का आविष्कार ही नहीं कर सकी। जिन सिद्धान्तों तथा नीतियों द्वारा मेरा जीवन परिचालित हो रहा है, उनमें से एक तो यह है कि मैं कभी अपने पूर्वजों को याद करके लज्जित नहीं होता हूँ। संसार में जितने भी बड़े-बड़े अहङ्कारी उत्पन्न हुए हैं, मैं भी उन्हीं में से एक हूँ, परन्तु मैं यह स्पष्ट शब्दों में बताए देता हूँ कि मेरा यह अहङ्कार अपने गुण अथवा शक्ति के कारण नहीं है, अपितु वह भी अपने पूर्वजों के कारण ही है। मैंने जितना अधिक अपने अतीत-काल की बातों का अध्ययन किया है, जितनी दूर तक पीछे की ओर देखा है, मेरे हृदय में उतना ही अधिक पूर्वजों का गौरव उत्पन्न हुआ है। इसी ने मुझे दृढ़, अविचल विश्वास तथा साहस प्रदान किया है, इसी ने मुझे धूलि से उठा कर अपने महान् पूर्वजों के महान् उद्देश्यों को कार्य रूप में परिणत करने के लिए खड़ा किया

है। उन्हीं प्राचीन आर्यों की सन्तानो ! ईश्वर की कृपा से तुम्हारे हृदयों में भी वह अहङ्कार इस तरह उत्पन्न हो कि वह तुम्हारे रक्त के साथ मिल जाए और तुम्हारे जीवन का अङ्ग बन जाए एवं उसके द्वारा समस्त संसार कल्याण साधित हो।

भाइयो ! हम सब लोगों की मिलन-भूमि कहाँ है ? हमारे जातीय जीवन की नींव क्या है ? इस बात का पता लगाने का प्रयत्न करने से पहले हमें एक बात सदैव स्मरण रखनी पड़ेगी कि जिस प्रकार प्रत्येक मनुष्य का एक व्यक्तित्व होता है, उसी प्रकार प्रत्येक जाति का भी एक-एक व्यक्तित्व होता है। जिस प्रकार एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति के साथ कुछ विषयों में अन्तर होता है, प्रत्येक व्यक्ति में कुछ-न-कुछ विशेषता होती है, उसी तरह प्रत्येक प्रत्येक जाति का भी अन्य जाति के साथ कुछ-न-कुछ पार्थक्य होता है। और जिस तरह प्रत्येक व्यक्ति को प्रकृति का कोई-न-कोई उद्देश्य सिद्ध करना पड़ता है, अपने पहले किए हुए कर्मों के फल के अनुसार चलना ही पड़ता है, उसी प्रकार प्रत्येक जाति को भी किसी एक दैव निर्दिष्ट-मार्ग का अनुसरण करना होता है, प्रत्येक जाति को कोई संदेह घोषित करना होता है तथा प्रत्येक जाति को किसी-न-किसी व्रत का उद्यापन करना होता है। अतः सर्व प्रथम हमें यह जानना चाहिए कि हमारा जातीय-व्रत क्या है और विधाता ने किस उद्देश्य की सिद्ध के हेतु इसकी सृष्टि की है ! यह जानना होगा कि भिन्न-भिन्न जातियों की उन्नति तथा अधिकार में इसका स्थान कहाँ है तथा अन्यान्य जातियों की एकतान संगीत-ध्वनि में यह कौन-सा स्वर भरेगा, यह भी जानना पड़ेगा ! हम लोग बचपन में यह कहानी सुना करते थे कि कुछ सर्पों के

मस्तक में मणि होती है। तुम उस सर्प को लेकर जो चाहो, सो कर सकते हो। परन्तु जबतक उसके मस्तक में मणि रहेगी, तबतक तुम उसे मार नहीं सकते। हम लोगों ने किस्से-कहानियों में राक्षसों की भी बहुत-सी बातें सुनी हैं। कहते हैं, राक्षसों के प्राण 'हीरामन तोते' के कलेजे के भीतर बंद रहते थे। जबतक उस 'हीरामन तोते' की जान-में-जान रहती थी, तबतक उस राक्षस अथवा राक्षसी का बाल भी बाँका नहीं होता था। चाहे कोई उसे टुकड़े-टुकड़े ही क्यों न कर डाले, परन्तु तोते के जीते-जी कोई उसे मार नहीं सकता था। जातियों के सम्बन्ध में भी यही बात है। जाति-विशेष का जीवन भी ठीक उसी तरह जैसे किसी वस्तु में छिपा हुआ रहता है, वही उस जाति की जातीयता रहती है। जबतक उस गुप्त स्थान पर चोट नहीं पड़ती, तबतक उसकी मृत्यु नहीं होती। इसी तत्व के प्रकाश द्वारा हम संसार के इतिहास की सबसे अधिक आश्चर्यपूर्ण अनोखी घटना को भी भलीभाँति देख और जान सकते हैं। असभ्य—बर्बर जातियों के आक्रमणों की असंख्य लहरें हमारी जाति के मस्तक पर होती हुई चली गई हैं। सैकड़ों वर्षों तक भारतवर्ष के आकाश मे 'अल्ला हो अकबर' की आवाज गूँजती रही है, और सम्भवतः ऐसा कोई भी हिन्दू नहीं होगा, जिसे पल-पल पर मृत्यु की आशंका न होती रही हो। संसार के इतिहास में जितने प्रसिद्ध-२ देश हैं, उनमें सबसे अधिक दुःख, कष्ट तथा अत्याचार इसी देश ने सहे हैं। फिर भी, हम लोग जैसे पहले थे, वैसे ही आज भी हैं। अब भी हम नई विपत्ति का सामना करने के लिए तैयार हैं। इतना ही नहीं, आज हम न केवल स्वयं को

शक्तिशाली अनुभव कर रहे हैं, अपितु हम यहाँ से बाहर जाकर अपने भावों का प्रचार करने तक के लिए भी प्रस्तुत हैं। इस बात के स्पष्ट लक्षण दिखाई दे रहे हैं तथा यही जीवन का चिह्न है। आज हम यह देखते हैं कि हमारे यहाँ के विचार तथा भाव केवल भारतवर्ष के भीतर ही बन्द नहीं है, अपितु हम चाहें अथवा न चाहें, वे बाहर जाकर औरों के साहित्य में भी प्रवेश कर रहे हैं। केवल इतना ही नहीं, कहीं-कहीं तो भारतीय विचार तथा भाव 'गुरु' जैसा श्रेष्ठ आसन भी प्राप्त करते हैं। इसका कारण यह है कि मानव-समाज का मन जिन विषयों को लेकर उलझा रहता है, उनमें सर्वश्रेष्ठ तथा सर्वोच्च विषय अर्थात् दर्शन तथा धर्म ही भारतवर्ष की ओर से समस्त संसार की उन्नति के हेतु एक बहुत बड़ा दान है।

हमारे पूर्वजों ने अन्य कितने ही विषयों की ओर ही ध्यान दिया था—औरों की भाँति हम लोगों ने भी वाह्य-जगत् का रहस्योद्घाटन करने का प्रयत्न किया था। हम सभी यह जानते हैं कि यदि उनका शक्तिशाली मस्तिष्क चाहता तो इस वाह्य-जगत् की उन्नति में ऐसी कितनी ही अद्भुत् वस्तुओं का आविष्कार करता, जिनकी लोग आज भी कल्पना नहीं कर सकते। परन्तु उन्होंने और ऊँचा पहुँचने के लिए उस मार्ग को त्याग दिया। वेदों के भीतर हमें उसी महान् विषय की प्रतिध्वनि सुनाई देती है—

"सा परा यया तदक्षरमधिगम्यते"❀

अर्थात् "पराविद्या उसे कहते हैं, जिसके द्वारा वह

❀ मुण्डकोषनिषद्, १—५।

अविनाशी परमपुरुष प्राप्त होता है।" यह परिवर्त्तनशील, अशाश्वत, प्रकृति सम्बन्धी विद्या, मृत्यु-दुःख-शोकपूर्ण इस संसार की चाहे जैसी बड़ी विद्या क्यों न हो, जो अपरिणामी हैं, आनन्दमय हैं, जो शान्ति के घर हैं, जिनके अतिरिक्त अन्य कहीं भी सम्पूर्ण दुःखों का अन्त नहीं होता, केवल एक उन्हीं को जान लेने वाली विद्या ही हमारे पूर्वजों की सम्मति में सर्वश्रेष्ठ विद्या है। कुछ भी हो, यदि वे चाहते, तो सरलतापूर्वक उस विद्या और उस विज्ञान को आविष्कृत कर सकते थे, जिससे केवल भोजन-वस्त्र प्राप्त होता है—वह विज्ञान, जो हमें अपने साथियों तथा पड़ोसियों को पराजित कर, उन पर अपना प्रभुत्व स्थापित् करने की शिक्षा देता है, जो बलवानों को दुर्बलों पर अत्याचार करने का उपाय बतलाता है। परन्तु ईश्वर की परम कृपा से उनका ध्यान उस ओर नहीं गया। उन्होंने एकदम दूसरा ही मार्ग पकड़ लिया। वह मार्ग पहले वाले मार्ग से सहस्र गुना श्रेष्ठ था, सहस्रगुना आनन्दमय था। इस मार्ग को पकड़ कर वे ऐसी एकाग्रता तथा एकनिष्ठा से आगे बढ़े कि अब वही हमारा जातीय-विशेषत्व बन गया है। सहस्रों वर्षों से निरन्तर पिता से पुत्र को उत्तराधिकार स्वरूप प्राप्त होता हुआ, अब हमारे जातीय-जीवन का अङ्ग हो गया है, हमारी धमनियों में बहने वाले रक्त की प्रत्येक बूँद में मिल गया है, हमारे स्वभाव के समान हो गया है, यहाँ तक कि अब 'धर्म' तथा 'हिन्दू' इन दोनों शब्दों से एक ही धर्म का बोध होता है, यही हमारी जातीय विशेषता है, इस पर चोट पहुँचाना असम्भव है। असभ्य, बर्बर जातियाँ तलवार तथा बन्दूकों के सहारे बर्बर-धर्म को लेकर आई हैं, परन्तु उनमें से कोई

भी सर्प के मस्तक की उस मणि को नहीं छू सकीं हैं—कोई भी उस जातीय-जीवन के 'हीरामन तोते' को मार सकीं हैं। अतः यही हमारी जाति की जीवनी-शक्ति है तथा जब तक उस पर चोट नहीं पहुँच पाती, तबतक संसार की कोई बड़ी-से-बड़ी शक्ति भी हमारा विनाश नहीं कर सकती। जबतक हम अपने इस परम्परागत महामूल्यवान् रत्न स्वरूप धर्म को पकड़े रहेंगे, तबतक संसार के सब तरह के अत्याचार, उत्पीड़नों तथा दुःख-कष्टों की अग्नि के भीतर से प्रह्लाद की भाँति बेदाग़ बाहर निकल आएँगे। यदि हिन्दू धार्मिक न हो, तो मैं उसे हिन्दू नहीं कहता। अन्य देशों में लोगों का मुख्य आश्रय राजनीतिक विषय हो सकता है, साथ ही वे थोड़ा-बहुत धर्म का अनुष्ठान भी कर सकते हैं; परन्तु यहाँ इस भारतवर्ष में वैसा नहीं हो सकता। यहाँ धर्मानुष्ठान सबसे पहला कर्त्तव्य है, उसके पश्चात् यदि अवकाश हो तो, धर्म के अतिरिक्त अन्य कार्य भी किए जा सकते हैं—कोई हानि नहीं। यदि हम इस बात को स्मरण रक्खें, तो यह अच्छी तरह समझ सकते हैं, कि हमें सर्वप्रथम अपनी जाति की समस्त आध्यात्मिक शक्तियों को ढूँढ़ निकालना होगा। भारत की विक्षिप्त आध्यात्मिक शक्तियों का एकीकरण अथवा एकत्रीकरण ही भारत की राष्ट्रीय-एकता का एकमात्र उपाय है। जिनके हृदयों के तार एक ही आध्यात्मिक-स्वर में बँधे हुए हैं, उनके सम्मिलन से ही भारत में राष्ट्र अथवा जाति का संगठन होगा।

भाइयो, इस देश में यथेष्ट सम्प्रदाय विद्यमान हैं। अब भी यथेष्ट हैं तथा भविष्य में भी यथेष्ट रहेंगे। क्योंकि, हमारे धर्म की यही विशेषता है। इसके मूलतत्त्व इतने

उदार हैं कि यद्यपि उसी में से बहुत से सम्प्रदाय फैले हुए हैं तथा शाखा-प्रशाखाएँ निकली हुई हैं, फिर भी उसका मूलतत्त्व वैसा ही उदार तथा विशाल है, जैसा कि हमारे मस्तक के ऊपर फैला हुआ यह आकाश। और, वह प्रकृति की भाँति नित्य है, सनातन है। अतः ये सम्प्रदाय स्वभावतः सदैव विद्यमान रहेंगे, इसमें सन्देह नहीं; परंतु इसके लिए साम्प्रदायिक विवादों की कोई आवश्यकता नहीं है। सम्प्रदाय रहें, परन्तु साम्प्रदायिकता दूर हो जाय। साम्प्रदायिकता से संसार की कोई उन्नति नहीं होगी, परंतु सम्प्रदायों के न रहने पर भी संसार का काम नहीं चल सकता। एक दल के लोग सब काम नहीं कर सकते। यह अनन्त-शक्ति कुछ थोड़े से लोगों द्वारा परिचालित नहीं हो सकती। यह बात समझ लेने पर यह भी समझ में आ जाएंगा कि हमारे भीतर किसलिए सम्प्रदाय भेद रूपी यह श्रम-विभाग अवश्य भावी बन गया है। भिन्न-भिन्न आध्यात्मिक शक्ति-समूहों का परिचालन करने के हेतु सम्प्रदाय विद्यमान रहें, परंतु इसके लिए हमें परस्पर लड़ने-झगड़ने की उस समय कोई आवश्यकता दिखाई नहीं पड़ती, जिस समय हम यह देखते हैं कि हमारे प्राचीन शास्त्र इस बात की घोषणा कर रहे हैं कि यह सब भेदभाव केवल ऊपर का ही है, देखने भर का है—मूलतः इन समस्त विभिन्नताओं को एक साथ बाँधे रखने वाला परम मनोहर स्वर्णसूत्र उनके भीतर ही पिरोया हुआ है। हमारे बहुत ही प्राचीन शास्त्रों ने घोषणा की है—"एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति"—संसार में एक ही वस्तु विद्यमान है, ऋषियों ने उसी एक का भिन्न-भिन्न नामों से वर्णन किया है। अतः ऐसे भारत में, जहाँ सभी सम्प्रदाय

सदैव समान रूप से सम्मानित होते आए हैं—यदि अब भी ये सब साम्प्रदायिक झगड़े, भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के बीच ईर्ष्या द्वेष रहें, तो हमें धिक्कार है, जो हम स्वय को उन महिमान्वित पूर्वजों के वंशधर बताते हैं ।

भाइयो ! मेरा विश्वास है कि कई एक ऐसी प्रधान-प्रधान बातें हैं, जिन पर हम सब एक मत हैं, जिन्हें हम सभी मानते हैं । हम चाहे वैष्णव हों अथवा शैव, शाक्त हो अथवा गाणपत्य—चाहे प्राचीन वैदान्तिक सिद्धान्तों को मानते हों, अथवा अर्वाचीन लोगों के अनुयायी हों,—पुरानी लकीर के फकीर हों अथवा नवीन सुधार-संस्कारवादी हों—कुछ भी क्यों न हों, परन्तु वे सभी, जो स्वयं को 'हिंदू' कहते हैं, कुछ विषयों पर समान रूप से विश्वास करते हैं । सम्भव है कि उन तत्त्वों की व्याख्या में भेद हो—और होना भी चाहिए, क्योंकि हम लोग सभी को एक ही साँचे में नहीं ढाल सकते, इस प्रकार का प्रयत्न ही पाप है । हम जिस प्रकार की व्याख्या करें, सबको वही व्याख्या माननी पड़ेगी अथवा हमारी ही प्रणाली का अनुसरण करना होगा—बल पूर्वक ऐसा प्रयत्न करना पाप है । भाइयो ! आज यहाँ पर जो लोग एकत्र हुए हैं, सम्भवतः वे सभी एक स्वर से यह स्वीकार करेंगे कि हम लोग वेदों को अपने धर्म-रहस्यों का सनातन उपदेश मानते हैं । हम सभी यह विश्वास करते हैं कि यह पवित्र शब्द-राशि अनादि तथा अनन्त है । जिस तरह प्रकृति न आदि है और न अन्त, ठीक उसी तरह इसका भी आदि-अन्त नहीं है; और जब कभी हम इस पवित्र-ग्रन्थ की शरण में जाते हैं, तभी हमारे धर्म सम्बंधी समस्त भेद-भाव तथा झगड़े मिट जाते हैं, हमारे धर्म

सम्बन्धी जितने भी भेद हैं, उनकी अन्तिम मीमांसा करने वाला यही 'वेद' है। 'वेद' क्या है, इस पर हम लोगों में मतभेद हो सकता है। कोई सम्प्रदाय वेद के किसी अंश को दूसरे अंशों से अधिक पवित्र समझ सकता है, परन्तु इससे कुछ आता-जाता नहीं, क्योंकि वेद पर हम सबका यह विश्वास है कि इसी एक सनातन पवित्र तथा अपूर्व-ग्रन्थ से वे समस्त वस्तुएँ प्राप्त होती हैं, जो विशुद्ध हैं, महान् हैं तथा सबसे उत्कृष्ट हैं। अच्छा, यदि हमारा ऐसा विश्वास है तो फिर इसी तत्त्व का सम्पूर्ण भारतवर्ष में प्रचार होना चाहिए। वेद सदैव से जिस प्रधानता का अधिकारी है, तथा उसकी जिस प्रधानता को हम भी मानते हैं, उसे वह प्रधानता दी जाय। अतः हम सब का सर्वप्रथम मिलन-स्थान है—वेद।

दूसरी बात यह है कि हम सभी ईश्वर में अर्थात् संसार की सृष्टि-स्थिति-लय-कारिणी-शक्ति में—जिसमें यह समस्त चराचर लय होकर फिर समय पर जगत्-प्रपञ्च रूप में निकल आता है—विश्वास करते हैं। हमारी ईश्वर सम्बंधी कल्पना भिन्न-भिन्न प्रकार की हो सकती है—कुछ लोग ईश्वर को केवल साकार अथवा सगुण रूप में, कुछ उन्हें सगुण तथा निर्गुण दोनों के समष्टि रूप में, तथा कुछ केवल निर्गुण रूप में ही मान सकते हैं तथा सभी अपनी-अपनी धारणा की पुष्टि में वेद का प्रमाण दे सकते हैं, परन्तु इन सब भिन्नताओं के होते हुए भी हम सभी ईश्वर में विश्वास करते हैं। इसी बात को दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी कहा जा सकता है—'जिनके द्वारा सम्पूर्ण चराचर उत्पन्न हुआ है, जिनके आश्रय से वह जीवित है

तथा अन्त में फिर जिनमें वह लीन हो जाता है, उस अद्भुत अनंत शक्ति पर जो विश्वास नहीं करता, वह स्वयं को 'हिंदू' नहीं कह सकता।' यदि ऐसी बात है, तो इस तत्त्व को भी समस्त भारत वर्ष में फैलाने का प्रयत्न करना होगा। तुम इस तत्त्व का चाहे जिस भाव से प्रचार करो, तुममें और हममें कोई वास्तविक अन्तर नहीं है—इसके लिए हम तुम्हारे साथ झगड़ा नहीं करेंगे; परंतु तुम्हें चाहे जैसे हो—इस तत्त्व का प्रचार करना ही होगा। बस, हम इतना ही चाहते हैं। ईश्वर सम्बंधी भिन्न-भिन्न धारणाओं में, सम्भव है, कोई धारणा सर्वश्रेष्ठ हो; परंतु स्मरण रक्खो कि उनमें कोई भी धारणा बुरी नहीं है। उन धारणाओं में कोई अच्छी, कोई अच्छी से भी अच्छी तथा कोई सबसे अच्छी हो सकती है; परंतु हमारी धार्मिक-तत्त्व-सम्बंधी शब्दावली में 'बुरा' नामक कोई शब्द है ही नहीं। अस्तु, ईश्वर के नाम का चाहे जो, चाहे जिस भाव से प्रचार करे, वह निश्चित रूप से ईश्वर के आशीर्वाद का पात्र होगा। उनके नाम का जितना ही अधिक प्रचार हो, देश का उतना ही अधिक कल्याण भी होगा। हमारे बच्चे बाल्यावस्था से ही इस भाव को अपने हृदय में धारण करना सीखें—अत्यन्त दरिद्र तथा नीचातिनीच मनुष्य के घर से लेकर बड़े-से-बड़े धनी-मानी तथा उच्चतम मनुष्य के घर में भी ईश्वर के शुभ-नाम का प्रवेश हो।

प्यारे भाइयो! अब मैं आप लोगों के समक्ष एक तीसरे तत्त्व को प्रकट करना चाहता हूँ। हम लोग औरों की भाँति यह विश्वास नहीं करते कि केवल कुछ सहस्र वर्ष पूर्व ही इससंसार की सृष्टि हुई है तथा एक दिन इसका

एकदम विनाश हो जाएगा। साथ ही, हम यह विश्वास भी नहीं करते कि इसी जगत् के साथ-साथ शून्य द्वारा जीवात्मा की भी सृष्टि हुई है। मेरा विचार है कि इस सम्बन्ध में भी सभी हिन्दू एकमत होंगे। मेरा विश्वास है कि प्रकृति अनादि तथा अनन्त है। हाँ, कल्पान्त में यह स्थूल वाह्य-जगत् सूक्ष्मता को प्राप्त होता है। फिर कुछ समय तक उस सूक्ष्मावस्था में रहकर पुनः बाहर आ जाता है। और प्रकृति कहे जाने वाले इस अनन्त-संसार-प्रपंच को प्रकट करता है। और, यह तरंगाकार गति अनन्त-काल से—जब स्वयं काल भी आरम्भ नहीं हुआ था, तभी से चल रही है तथा अनन्त काल तक चलती रहेगी।

एक बात और भी है। हिन्दू मात्र का यह विश्वास है कि वह स्थूल जड़-शरीर, अथवा इसके भीतर रहने वाला 'मन' नामक सूक्ष्म-शरीर भी, वास्तव में मनुष्य नहीं है—मनुष्य इनसे भी बहुत ऊँचा तथा श्रेष्ठ है; क्योंकि, स्थूल-शरीर फलभोगी है तथा मन का भी वही हाल है; परन्तु इन सब से परे 'आत्मा' नामक जो वस्तु है, उसका न आदि है और न अन्त। मैं इस 'आत्मा' शब्द का अँग्रेजी में अनुवाद नहीं कर सकता। इसके स्थान पर अँग्रेजी में आप जो भी शब्द कहेंगे, वह गलत होगा। हाँ, तो 'मृत्यु' नामक अवस्था से वह परिचित नहीं है। इसके अतिरिक्त एक विशेष बात और भी है, जिसमें हमारे साथ अन्यान्य जातियों का मतभेद है। वह बात यह है कि आत्मा एक शरीर का अन्त होने पर दूसरा शरीर धारण कर लेती है। ऐसा करते-करते वह एक ऐसा अवस्था में जा पहुँचती है, जब उसे फिर शरीर-धारण करने की कोई आवश्यकता ही नहीं

रह जाती अथवा उसे वैसा करने की इच्छा ही नहीं होती। तब वह मुक्त हो जाती है और फिर कभी जन्म नहीं लेती। हमारा तात्पर्य अपने शास्त्रों के पुनर्जन्मवाद तथा आत्मा के नित्यत्ववाद से है। हम चाहे जिस सम्प्रदाय के हों, परन्तु इस विषय में हम सभी एकमत हैं। इस आत्मा-परमात्मा के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में हमारे मत भिन्न-भिन्न हों, तो बने रहें। एक सम्प्रदाय आत्मा को परमात्मा से सदैव भिन्न मान सकता है, दूसरे सम्प्रदाय के मतानुसार आत्मा उसी अनन्त-अग्नि की एक चिनगारी हो सकती है तथा किसी सम्प्रदाय के मत से आत्मा तथा परमात्मा में कोई भेद ही नहीं हो—ऐसा भी हो सकता है। हम आत्मा तथा परमात्मा के इस सम्बन्ध के बारे में चाहे जैसा अर्थ क्यों न निकालें, चाहे जैसी व्याख्या क्यों न करें, इससे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं है। जबतक हम इस मूलतत्त्व को मानते हैं कि आत्मा अनन्त है—उसकी कभी सृष्टि नहीं हुई, इसलिए उसका कभी नाश भी नहीं हो सकता, उसे भिन्न-भिन्न शरीरों द्वारा क्रमशः उन्नति करते हुए अन्त में मनुष्य शरीर धारण कर पूर्णत्व को प्राप्त करना होगा—तबतक हम सभी एक-मत हैं।

अब मैं प्राच्य तथा पाश्चात्य भावों में सर्वाधिक भेद-जनक तथा धर्म-राज्य के सबसे बड़े एवं अपूर्व आविष्कार की बात बताऊँगा। आप लोगों में सम्भवतः कुछ ऐसे होंगे जो पाश्चात्य-विचारों का अध्ययन करते हों। शायद यह बात उन्हें पहले ही सूझी होगी कि एक और भी ऐसी मुख्य बात है, जो पाश्चात्य-विचारों को एक ही चोट में पूर्वीय-विचारों से अलग कर देती है। वह यह है कि हम भारत के निवासी

जितने भी प्रकार के धर्मावलम्बी हैं—शाक्त, शैव, सौर अथवा वैष्णव, यहाँ तक कि बौद्ध तथा जैन भी—सब-के-सब यही विश्वास करते हैं कि आत्मा स्वभावतः शुद्ध, पूर्ण, अनन्त शक्तिशालिनी तथा आनन्दमय है। केवल द्वैतवादियों के मत में आत्मा का यह चिदानन्द स्वभाव पिछले बुरे कर्मों के कारण संकुचित हो गया है, ईश्वर के अनुग्रह से वह फिर प्रस्फुटित हो जाएगा तथा पुनः अपनी अवस्था को प्राप्त करेगा। परन्तु अद्वैतवादी कहता है कि आत्मा के संकुचित होने की धारणा भी अनेक अंशों में भ्रान्तिमूलक है—माया के आवरण के कारण ही हम आत्मा की शक्तियों का क्षणिक ह्रास हुआ समझते हैं, वास्तव में उस समय भी आत्मा पूर्णतः प्रकाशमान रहती है। द्वैत तथा अद्वैतवाद में यह अन्तर रहने पर भी मूल तत्त्व में अर्थात् आत्मा की स्वाभाविक पूर्णता के सम्बन्ध में सबका विश्वास एक है। और, यहीं पर पाश्चात्य तथा प्राच्य के बीच की दृढ़भित्ति खड़ी होती है। प्राच्य-जाति उन वस्तुओं को, जो श्रेष्ठ तथा महान् हैं, अपने भीतर ढूँढ़ती हैं। पूजा-उपासना के समय हम लोग आँखें बन्द करके ईश्वर को अपने भीतर ढूँढ़ते फिरते हैं। पाश्चात्य जाति वाले अपने ईश्वर को बाहर ही ढूँढ़ते फिरते हैं। पाश्चात्यों के धर्म-ग्रन्थ श्वास की भाँति बाहर से भीतर आए हुए हैं, परन्तु हमारे धर्म-ग्रन्थ भीतर से बाहर निकले हुए हैं—ईश्वर-निःश्वसित"* हैं—मंत्रद्रष्टा ऋषियों के हृदयों से निकले हैं।

यह एक अत्यन्त आवश्यक तथा भलीभाँति समझ लेने

---

* वृहदारण्यक उपनिषद्, २-४-१०

की बात है । प्यारे भाइयो ! मैं आप लोगों को यह बताए देता हूँ कि भविष्य में हमें फिर यही बात बतानी और समझानी पड़ेगी । क्योंकि, मेरा दृढ़ विश्वास है—और मैं आप लोगों से भी इस बात को भलीभाँति समझ लेने के लिए कहता हूँ कि जो व्यक्ति दिन-रात स्वयं को दीन-हीन अथवा अयोग्य समझे बैठा रहेगा, उसके द्वारा कुछ भी नहीं हो सकता, वास्तव में वह दिन-प्रतिदिन अपनी उस कल्पित-अवस्था को प्राप्त होता जाएगा । यदि आप समझें कि हमारे भीतर शक्ति है, तो आपके भीतर से ही शक्ति जग उठेगी और, यदि आप यह सोचें कि हम कुछ नहीं हैं—दिन-रात यही सोचते रहें, तो आप सचमुच 'कुछ नहीं' हो जाएँगे । आप लोगों को यह महान् तत्त्व सदैव याद रखना चाहिए कि हम उसी सर्वशक्तिमान की सन्तान हैं, हम उसी अनन्त ब्रह्माग्नि की चिनगारियाँ हैं—भला, हम 'कुछ नहीं' क्यों कर हो सकते हैं ? हम सब कुछ कर सकते हैं । हमें सब कुछ करना ही होगा—हमारे पूर्वजों में ऐसा ही दृढ़ आत्मविश्वास था । इसी आत्मविश्वास रूपी प्रेरणा-शक्ति ने उन्हें ऊँची-से-ऊँची सीढ़ी पर चढ़ाया था । और, अब यदि हमारी अवनति हुई हो तो मैं आपसे सच कहता हूँ—जिस दिन हमारे पूर्वजों ने यह आत्मविश्वास गँवाया होगा, उसी दिन से हमारी यह अवनति, यह दुरवस्था आरम्भ हुई है । आत्म-विश्वास के न होने का मतलब ही है—ईश्वर में अविश्वास । क्या तुम्हें विश्वास है कि वह अनन्त मंगलमय परमेश्वर तुम्हारे भीतर बैठकर काम कर रहा है ? यदि तुम ऐसा विश्वास करो कि वही सर्वव्यापी, अन्तर्यामी प्रत्येक अणु-परमाणु में—तुम्हारे शरीर, मन तथा आत्मा में ओत-प्रोत

है, तो फिर क्या तुम कभी उत्साह से वंचित हो सकते हो ? मानलो, मैं पानी का एक छोटा-सा बुलबुला हूँ, और तुम एक बड़े भारी पर्वत के समान तरंग हो, तो इससे क्या ? मैं जो हूँ वह हूँ, तुम जो हो वह हो। वह अनन्त-समुद्र जैसा तुम्हारे लिए है, वैसा ही मेरे लिए भी आश्रयदाता है। उस प्राण, शक्ति तथा आध्यात्मिकता के अनन्त-समुद्र में जैसा तुम्हारा है, वैसा ही मेरा भी अधिकार है। मेरे जन्म से ही—मेरे अन्दर जीवन होने से ही—यह प्रमाणित हो रहा है कि भले ही तुम बड़े भारी पर्वत के समान ऊँचे हो, परन्तु मैं भी उसी अनन्त-जीवन, अनन्त-शिव तथा अनन्त-शक्ति के साथ नित्य सम्बद्ध हूँ। अतः, भाइयो ! आप अपनी सन्तानों को बचपन से ही इस महान्, जीवनप्रद, उच्च तथा महत्व विधायक तत्त्व की शिक्षा देना आरम्भ कर दीजिए। उन्हें जान-बूझकर अद्वैतवाद की ही शिक्षा देने की कोई आवश्यकता नहीं है। आप चाहे अद्वैतवाद की शिक्षा दें अथवा अन्य किसी वाद की—मैंने यह पहले ही बता दिया हैं कि आत्मा की पूर्णता के इस अपूर्व सिद्धान्त को सभी सम्प्रदाय वाले समान रूप से मानते हैं। हमारे पूज्य दार्शनिक कपिल ने कहा है कि पवित्रता यदि आत्मा का स्वरूप हो, तो वह कभी पवित्रता को प्राप्त नहीं हो सकतो; क्योंकि जो स्वभावतः पूर्ण नहीं है, वह यदि किसी तरह पूर्णता प्राप्त कर भी ले, तो वह पूर्णता उसमें स्थिर भाव से नहीं रह सकती—उसका लोप हो ही जाएगा। यदि अपवित्रता ही मनुष्य का स्वभाव हो, तो वह कुछ समय के लिए भले ही पवित्रता प्राप्त करले, परन्तु वह सदैव के लिए अपवित्र ही बना रहेगा। कभी-न-कभी ऐसा समय

आएगा, जब यह पवित्रता धुल जाएगी, दूर हो जाएगी और फिर वही स्वाभाविक अपवित्रता अपना अधिकार जमा लेगी। इसीलिए, हमारे सभी दार्शनिकों ने यह कहा है कि पवित्रता ही हमारा स्वभाव है, अपवित्रता नहीं; पूर्णता ही हमारा स्वभाव है, अपूर्णता नहीं—इसे आप लोग सदैव याद रक्खें। शरीर त्याग करते समय एक महर्षि ने अपने मन से कहा है—"अपने किए हुए उत्कृष्ट कार्यों तथा ऊँचे विचारों का स्मरण करते रहना।" यह सुन्दर दृष्टान्त सदैव स्मरण रखने योग्य है। देखिए, उन्होंने अपने मन से अपनी दुर्बलताओं की याद करने के लिए नहीं कहा है। यह अवश्य है कि मनुष्य में दुर्बलताएँ भी बहुत हैं, परन्तु फिर भी तुम अपने वास्तविक स्वरूप को सदैव स्मरण रक्खो—बस, इन दोषों तथा दुर्बलताओं के दूर करने की यह अमोघ औषधि है। भाइयो! मैं समझता हूँ कि ऊपर जो मैंने कई विषय बताए हैं, उन्हें भारतवर्ष के सभी भिन्न-भिन सम्प्रदाय वाले स्वीकार करते हैं तथा सम्भवतः भविष्य में इस सर्व-स्वीकृत-आधार पर सभी सम्प्रदायों के लोग फिर वे चाहे उदार हों अथवा कट्टर पुरानी लकीर के फक़ीर हों अथवा नई रोशनी वाले—सम्मिलित होंगे। परन्तु सबसे बढ़कर एक बात और है, जिसे सदैव याद रखना परम आवश्यक है। मुझे दुःख के साथ कहना पड़ता है कि हम लोग उस अत्यन्त आवश्यक विषय को कभी-कभी भूल जाते हैं। वह बात यह है कि हमारे भारतवर्ष में 'धर्म' का अर्थ होता है—प्रत्यक्ष अनुभूति। यदि यह न हो, तो फिर 'धर्म' वास्तव में 'धर्म' कहलाने योग्य न रहे। हमें कोई यह बात नहीं सिखा सकता कि

'जब तुम इस मत को स्वीकार करोगे, तभी तुम्हारा उद्धार होगा।' क्योंकि हम इस बात पर विश्वास नहीं करते। तुम स्वयं को जैसा बनाओगे, स्वयं को जैसे साँचे में ढालोगे, वैसे ही बनोगे। तुम जो कुछ हो, जैसे हो, ईश्वर की कृपा तथा अपने प्रयत्न से वैसे ही बने हो। अतः किसी मत-विशेष पर विश्वास करने से तुम्हारा कोई विशेष उपकार नहीं होगा। 'अनुभूति'—यह महती शक्तिमयी वाणी भारत के ही आध्यात्मिक गगन-मण्डल से आविर्भूत हुई है तथा एकमात्र हमारे शास्त्रों ने ही बार-बार यह कहा है—"ईश्वर के दर्शन करने होंगे।"* यह बात बड़े साहस की है, इसमें कोई सन्देह नहीं, परन्तु साथ ही यह अक्षरशः सत्य भी है। धर्म की प्रत्यक्ष अनुभूति करनी होगी, केवल सुनने से ही काम नहीं चलेगा—तोते की भाँति कुछ थोड़े से शब्द तथा धर्म-विषयक बातें रट लेने से भी काम नहीं चलेगा, केवल बुद्धि की दुहाई देने से भी काम नहीं चलेगा—आवश्यकता है हमारे भीतर धर्म के प्रविष्ट करने की। ईश्वर के ऊपर जो हम विश्वास करते हैं, उसका कारण केवल हमारी जबरदस्त दलीलें अथवा तर्क-युक्तियाँ ही नहीं हैं, अपितु ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में हमारा एक और सर्वोच्च प्रमाण है, और वह यही है कि हमारे यहाँ सभी पहुँचे हुए लोगों ने ईश्वर का साक्षात्कार प्राप्त किया है। आत्मा के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए हमारे यहाँ जो अकाट्य तथा दृढ़-युक्तियाँ हैं, केवल इसी के कारण हम आत्मा के अस्तित्व पर विश्वास का प्रधान आधार यह है कि प्राचीन काल में भारतवर्ष के सहस्रों व्यक्तियों ने आत्मा के प्रत्यक्ष

*ॐ क्रतोस्मर कृतं स्मर क्रतं स्मर।—इशोपनिषद् १७।

दर्शन किए हैं। और, आज भी यदि ढूँढ़े जाँय तो कम-से-कम दस आत्मदर्शी तो अवश्य ही मिल जाएँगे। तथा भविष्य में भी ऐसे सहस्रों आत्मदर्शी होंगे। जब तक मनुष्य ईश्वर के दर्शन नहीं कर लेगा, तबतक उसकी मुक्ति होना असम्भव है। अतः सबसे पहले, हमें इस विषय को भलीभाँति समझना होगा, और हम लोग इस विषय को जितना ही अधिक समझेंगे, हमारे यहाँ का साम्प्रदायिक भेदभाव उतना ही घटता जाएगा, क्योंकि, जिसने ईश्वर के दर्शन प्राप्त किए हैं—उनका साक्षात्कार पाया है—वही व्यक्ति सच्चा धार्मिक है।

"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व संशयः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥*

"जिसने उन्हें देख लिया—जो हमारे बहुत ही पास भी हैं तथा बहुत दूर भी हैं—उसके हृदय की गाँठ खुल गई, उसके सब सन्देह दूर हो गए तथा एकमात्र वही कर्म-फल के बन्धन से छुटकारा पा गया।"

हाय! हम लोग प्रायः व्यर्थ तथा बेकार वागाडम्बर को ही आध्यात्मिक सिद्धान्त समझ बैठते हैं—पाण्डित्यपूर्ण वक्तृताओं की झंकार सुनकर उसे ही धर्मानुभूति समझ लेते हैं। सभी साम्प्रदायिकताओं तथा सभी विरोध भावों का मूलकारण यही है। यदि हम लोग इस बात को एकबार भलीभाँति समझ लें कि प्रत्यक्ष अनुभूति ही प्रकृत धर्म है, तो हम अपने हृदय की ओर दृष्टि फिरा कर यह समझने का प्रयत्न करेंगे कि धर्म के सत्य तत्त्वों की उपलब्धि की ओर हम कहाँ तक आगे बढ़े हैं। तभी हम यह बात भी

* मुण्डकोपनिषद्, २-२-८

समझ सकेंगे कि जिस प्रकार हम स्वयं अन्धकार में घूम रहे हैं, उसी प्रकार औरों को भी अंधेरे में घुमा रहे हैं। बस, इतना समझने पर ही हमारी साम्प्रदायिकता तथा लड़ाई मिट जाएगी। यदि तुमसे कोई साम्प्रदायिक झगड़ा करने को प्रस्तुत हो, तो तुम उससे यह पूछो कि क्या उसने ईश्वर के दर्शन किए हैं ? क्या उसे कभी आत्म-दर्शन प्राप्त हुआ है ? यदि नहीं, तो उससे कह दो कि उसे ईश्वर का नाम प्रचारित करने का कोई अधिकार नहीं है, क्योंकि वह स्वयं भी अंधेरे में घूम रहा है और तुम्हें भी उसी अंधेरे में ले जाने का प्रयत्न करता है। तुम दोनों ही उसी प्रकार गड्ढे में जा गिरोगे, जिस प्रकार अन्धे को मार्ग दिखाने वाला कोई अन्धा। अतः दूसरे के साथ विवाद करने से पूर्व तनिक सोच-समझ लेना, तभी आगे बढ़ना। सबको अपने-अपने मार्ग से चलने दो, प्रत्यक्ष अनुभूति की ओर आगे बढ़ने दो। सभी अपने-अपने हृदय में उस सत्य स्वरूप आत्मा के दर्शन करें। जब हम उस अनादि, अनन्त तथा अनावृत सत्य स्वरूप के दर्शन कर पाएँगे, तभी उससे प्राप्त होने वाले अपूर्व आनन्द का अनुभव कर सकेंगे। भारतवर्ष के उन सब सत्यदर्शी प्राचीन ऋषियों ने एक स्वर से जिनकी बात कही है, हम भी उन्हीं के दर्शन प्राप्त कर सकेंगे। फिर उस समय हमारे हृदयों से प्रेमपूर्ण वाणी स्वयं ही निकलने लगेगी, क्योंकि जो प्रत्यक्ष प्रेम स्वरूप हैं, वे ही हमारे हृदय में अवस्थित रहेंगे। बस, उसी समय हमारे सभी साम्प्रदायिक भेदभाव समाप्त हो जाएँगे, तभी हम स्वयं 'हिन्दू' कहने के अधिकारी होंगे—तभी प्रत्येक हिन्दू नामधारी व्यक्ति के सच्चे स्वरूप को हृदय में धारण करते हुए उससे गहरा

प्रेम कर सकेंगे ।

मेरी बात पर विश्वास करो । केवल तभी तुम वास्तव में 'हिन्दू' कहलाने के योग्य होंगे, जब 'हिन्दू' शब्द को सुनते ही तुम्हारे भीतर बिजली दौड़ने लग जाएगी; केवल तभी तुम स्वयं को सच्चा हिन्दू कह सकोगे, जब तुम किसी देश अथवा किसी प्रान्त अथवा कोई भी भाषा बोलने वाले हिन्दू-संज्ञक व्यक्ति को एकदम अपना सगा समझ सकोगे; केवल तभी तुम स्वयं को सच्चा हिन्दू मान सकोगे, जब किसी भी हिन्दू कहलाने वाले के दुःख में दुःख अनुभव करोगे—अपनी संतान पर विपत्ति आने से जिस प्रकार तुम व्याकुल हो उठते हो, उसी प्रकार उसके लिए भी व्याकुल होंगे । तभी तुम स्वयं को सच्चा-हिन्दू बता सकोगे, जब तुम उनके सभी अत्याचारों को अपने ऊपर सहने के लिए तैयार हो जाओगे । इसके सर्वोच्च तथा ज्वलन्त दृष्टान्त हैं—तुम्हारे गुरू गोविन्दसिंह, जिनकी चर्चा मैं आरम्भ में कर चुका हूँ । उन महात्मा ने देश के शत्रुओं के विरुद्ध लोहा लिया, हिन्दू धर्म की रक्षा के हेतु अपने हृदय का रक्त बहाया, अपने पुत्रों को अपनी आँखों के सम्मुख बलिदान होते हुए देखा—परन्तु जिनके लिए उन्होंने अपना—तथा अपने प्राणों से बढ़कर अपने पुत्रों का—रक्त बहाया, उन्हीं लोगों ने, उनकी सहायता करना तो दूर रहा, उलटे उन्हें त्याग दिया—यहाँ तक कि देश से निकाल दिया । अन्त में मर्मान्तिक चोट खाकर वह शेर धीरे से अपने जन्मस्थान को त्याग, दक्षिण भारत में जाकर, वहीं मृत्यु की प्रतीक्षा करने लगा । परंतु अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक उन्होंने अपने उन कृतघ्न देशवासियों के प्रति अभिशाप का एक शब्द भी कभी मुँह

से नहीं निकाला। मेरी बात पर ध्यान दो—सुनो, यदि तुम देश का हित-साधन करना चाहते हो, तो समझलो कि प्रत्येक मनुष्य को गुरू गोविन्दसिंह बनना होगा। पहले तुम्हें अपने इन स्वजातीय मनुष्य रूपी देवताओं की पूजा करनी होगी, भले ही वे तुम्हारी बुराई के लिए लाख प्रयत्न करें। इनमें से प्रत्येक व्यक्ति यदि तुम्हारे ऊपर अभिशाप तथा निन्दा की बौछार करें, तो भी तुम इनके प्रति प्रेमपूर्ण वाणी का ही प्रयोग करो। यदि ये तुम्हें त्याग दें, पाँव से ठुकरा दें, तो तुम भी उसी वीर-केशरी गोविन्दसिंह की भाँति, समाज से दूर जाकर मृत्यु की प्रतीक्षा करो। जो ऐसा कर सकता है, वही सच्चा हिन्दू कहलाने का अधिकारी है। हमें अपने सामने सदैव इसी प्रकार का आदर्श रखना होगा। पारस्परिक विरोधभाव को भूलकर चारों ओर प्रेम का प्रवाह बहाना होगा।

भारत के उद्धार के लिए लोग जो जी में आए कहें। मैंने जीवन भर काम किया है, कम-से-कम काम करने का प्रयत्न अवश्य किया है, अतः मेरा यही अनुभव है कि तुम जब तक सच्चे-धार्मिक नहीं होते, तबतक भारत का उद्धार होना असम्भव है। केवल भारत ही नहीं, समस्त संसार का कल्याण इसी पर निर्भर है। क्योंकि मैं तुम्हें स्पष्ट बताए देता हूँ कि इस समय पाश्चात्य-सभ्यता की नींव हिल गई है। जड़वाद की कच्ची नींव पर खड़ी होने वाली बड़ी-से-बड़ी इमारत भी एक-न-एक दिन अवश्य नीचे ढह जाएगी इस विषय में संसार का इतिहास ही सबसे बड़ा साक्षी है। कितनी जातियों ने जड़वाद की नींव पर अपने महत्व का किला खड़ा करके एक-दूसरे की अपेक्षा अपना सिर ऊपर

उठाया था तथा संसार के समक्ष यह घोषणा की थी कि जड़ के अतिरिक्त मनुष्य और कुछ नहीं है ! तनिक ध्यान से देखिए । पाश्चात्य भाषा में मृत्यु के लिए कहते हैं—"मनुष्य ने आत्मा छोड़ दी (A man gives up the ghost)" परन्तु हमारे यहाँ की भाषा में कहते हैं—अमुक ने शरीर छोड़ दिया ।" पाश्चात्यदेशवासी अपनी बात कहते समय पहले शरीर को ही लक्ष्य करते हैं, तदुपरान्त आत्मा की ओर दृष्टिपात करते हैं; परन्तु हम लोग स्वयं को ही पहले आत्मा समझते हैं, उसके बाद अपने शरीर को । इन दोनों भिन्न-भिन्न वाक्यों की आलोचना करने पर तुम यह देखोगे कि प्राच्य तथा पाश्चात्य विचार-प्रणाली में कितना बड़ा अन्तर है । इसी कारण जितनी भी सभ्यताएँ भौतिक सुख-स्वच्छन्दता की नींव पर खड़ी हुई थीं, वे एक-एक करके लुप्त हो गईं, परन्तु भारतीय सभ्यता—अपितु उन देशों की सभ्यता भी, जिन्होंने भारत के चरणों में बैठकर शिक्षा ग्रहण की है—जैसे चीन, जापान आदि अब तक जीवित हैं । इतना ही नहीं, उनमें पुनरुत्थान के लक्षण भी दिखाई दे रहे हैं । उन्हें 'रक्तबीज' की उपमा दी जा सकती है । तुम चाहे उन्हें सहस्रों बार नष्ट कर डालो, परंतु वे फिर नई शक्तियों को लेकर जीवित हो उठेंगे । परंतु जो समस्याएँ जड़वाद के आधार पर स्थापित हैं, वे यदि एक बार नष्ट हो गईं, तो फिर उठ ही नहीं सकतीं । यदि एक बार महल ढह पड़ा तो सदैव के लिए धूलि में मिल गया । अतः धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करते रहो । हम भविष्य में अवश्य ही गौरवान्वित होंगे ।

घबराओ मत, और न किसी दूसरे का अनुकरण

करने का ही प्रयत्न करो। अन्य आवश्यक बातों के साथ हमें यह बात भी सदैव स्मरण रखनी होगी कि दूसरे का अनुकरण करना सभ्यता अथवा उन्नति का लक्षण नहीं है। यदि मैं स्वयं राजा की पोषाक पहिन लूँ, तो क्या इतने से ही मैं राजा बन जाऊँगा ? शेर की खाल ओढ कर गदहा कभी शेर नहीं हो सकता। नीच, शक्तिहीन तथा डरपोक की भाँति अनुकरण करना कभी भी उन्नति का कारण नहीं हो सकता। वैसा करना तो मनुष्य के अधःपतन का लक्षण है। जब मनुष्य अपने आप पर घृणा करने लग जाता है, तब यह समझना चाहिए कि उस पर अन्तिम चोट बैठी है। जब वह अपने पूर्वजों को मनाने में लज्जित होता है, तो यह समझलो कि उसका विनाश निकट है। यद्यपि में हिन्दू-जाति में नगण्य व्यक्ति हूँ, तथापि अपनी जाति तथा अपने पूर्वजों के गौरव से अपना गौरव अनुभव करता हूँ। स्वयं को हिंदू बताते हुए, हिंदू कहकर अपना परिचय देते हुए मुझे एक प्रकार का गौरव-सा होता है। मैं तुम लोगों का एक तुच्छ-सेवक होने में अपना गौरव समझता हूँ। तुम लोग आर्य-ऋषियों के वंशज हो—उन ऋषियों के, जिनकी महत्ता की तुलना नहीं हो सकती। इस देश का निवासी होने का मुझे गर्व है। अतः आत्म-विश्वासी बनो। पूर्वजों के नाम से स्वय को लज्जित नहीं, अपितु गौरवान्वित समझो। स्मरण रहे, किसी दूसरे का अनुकरण कभी मत करना। जब कभी तुम दूसरे के विचारों का अनुकरण करोगे, तभी तुम अपनी स्वाधीनता को खो बैठोगे। यहाँ तक कि आध्यात्मिक विषयों में भी यदि तुम दूसरों के आदेशानुसार चलोगे तो केवल अपनी चिन्तन-शक्ति ही नहीं,

अपितु सभी शक्तियों को गँवा बैठोगे ।

तुम्हारे भीतर जो कुछ है, अपनी शक्तियों द्वारा उस का विकास करो, परन्तु किसी दूसरे का अनुकरण करके नहीं । हाँ, दूसरों के पास यदि कुछ अच्छा हो तो उसे ग्रहण करलो । दूसरों के पास से भी हमें कुछ सीखना ही होगा । मिट्टी तथा हवा आदि से रस-संग्रह करके एक विशाल वृक्ष बन जाता है । जल, वायु तथा मिट्टी आदि से रस-संग्रह करके भी वह वृक्ष का ही रूप धारण करता है और मिट्टी अथवा जल का ढेर नहीं बन जाता । जिस प्रकार वह बीज मिट्टी तथा जल आदि से रस के रूप में आवश्यक सारांश खींचकर अपनी आकृति के अनुसार एक विशाल-वृक्ष का रूप धारण कर लेता है, उसी प्रकार औरों से उत्तम बातें सीख कर तुम भी वृक्ष की भाँति उन्नत बनो । जो सीखना नहीं चाहता, वह तो पहले ही मर चुका है । महर्षि मनु ने कहा है—

"श्रद्दधानः शुभां विद्यामाददीतावरादपि ।
अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि ।"*

"नीच व्यक्ति की सेवा करके भी श्रेष्ठ-विद्या सीखने का प्रयत्न करो । चांडाल द्वारा भी श्रेष्ठ-धर्म को शिक्षा ग्रहण करो ।" आदि ।

औरों के पास से जो कुछ अच्छा मिले, उसे सीखलो, परन्तु उसे अपने साँचे में ढाल लेना होगा—दूसरे की शिक्षा ग्रहण करते समय उसके ऐसे अनुगामी मत बनो कि अपनी स्वतंत्रता को गँवा बैठो । भारत के इस जातीय-जीवन को

---

* मनुस्मृति, २—२३८

मत भूल जाना—पल भर के लिए भी यह मत सोचना कि भारतवर्ष के सभी अधिवासी यदि अमुक-जाति की वेश-भूषा धारण कर लेते अथवा अमुक-जाति के आचार व्यवहार आदि के अनुयायी बन जाते, तो बहुत अच्छा होता। कुछ वर्षों के अभ्यास को त्यागना भी कितनी कठिन बात है, इसे तुम अच्छी तरह जानते हो और परमात्मा ही जाने, कितने शत सहस्त्र वर्षों से यह प्रबल-जातीय-स्रोत एक विशेष दिशा की ओर प्रवाहित हो रहा है। तुम्हारे रक्त के भीतर, परमात्मा ही जाने, कितने सहस्र वर्षों का संस्कार जमा हुआ है। क्या तुम इस प्रबल-स्रोत को समुद्र की ओर से यह असम्भव है। हटाकर फिर हिमालय की ओर मोड़ ले जाना चाहते हो? यदि ऐसा प्रयत्न करोगे तो स्वयं ही नष्ट हो जाओगे। अतः इस जातीय-जीवन के स्रोत को पूर्ववत् प्रवाहित होने दो। हाँ, जो बाधाएँ इसके मार्ग में रुकावट डाल रही हैं, उन्हें हटा दो। इसका मार्ग साफ करके प्रवाह को मुक्त करदो। तभी यह जातीय-जीवन-स्रोत अपनी स्वाभाविक गति से प्रवाहित होकर आगे बढ़ेगा—तभी यह जाति अपनी सर्वाङ्गीण उन्नति करती हुई अपने ऊँचे-से-ऊँचे ध्येय की ओर आगे बढ़ेगी।

भाइयो! भारत की आध्यात्मिक उन्नति के सम्बन्ध में मैंने उक्त बातें कही हैं। इनके अतिरिक्त और भी बहुत सी बड़ी-बड़ी समस्याएँ हैं। आज समयाभाव के कारण मैं उनकी आलोचना नहीं कर सका। उदाहरण के लिए, जातिभेद सम्बन्धी अद्भुत् समस्या को ही ले लीजिए। मैं जीवन भर इस समस्या पर प्रत्येक पहलू से विचार करता आया हूँ। भारत के प्रायः सभी प्रदेशों में जाकर मैंने इस

विषय को छेड़ा है। इस देश के प्रायः सभी जातियों के लोगों से मिलकर मैंने इस समस्या को हल करने की चर्चा की है, और अभी तक कर रहा हूँ। परन्तु मैं इस विषय पर जितना ही अधिक विचार करता हूँ, मेरे सामने उतनी ही अधिक कठिनाइयाँ आ रही हैं तथा इसके उद्देश्य और तात्पर्य के विषय में मैं उतना ही अधिक किंकर्त्तव्यविमूढ़ होता जारहा हूँ। अन्त में, अब मेरी आँखों के सम्मुख एक क्षीण प्रकाशरेखा-सी दिखाई पड़ने लगी है। इधर कुछ दिनों से इसका मूल-उद्देश्य कुछ-कुछ समझ में आने लगा है। इसके पश्चात् खान-पान की समस्या भी बड़ी विषम है। वास्तव में, यह एक बड़ी जटिल समस्या है। साधारणतः हम लोग उसे जितना आवश्यक समझते हैं, सच पूछा जाय तो यह उतनी आवश्यक नहीं है। मैं तो अब इस सिद्धान्त पर आ पहुँचा हूँ कि आज कल खान-पान के सम्बन्ध में हम लोग जिस बात पर जोर देते हैं, वह एक बड़ी विचित्र बात है—वह शास्त्रानुमोदित प्रथा नहीं है अर्थात् हम लोग खान-पान की अवहेलना करके कष्ट पा रहे हैं—खान-पान की शास्त्रानुमोदित प्रथा को एकदम भूल गए हैं।

इसी तरह और भी कई आवश्यक विषय हैं। मैं उन्हें भी आप लोगों के समक्ष उपस्थित कर देना चाहता हूँ। साथ ही, यह भी बताना चाहता हूँ कि इन समस्याओं को हल करने अथवा इन्हें कार्यरूप में परिणत करने का क्या उपाय है, तथा इस विषय पर बहुत-कुछ सोचने-विचारने के पश्चात् मैं किस सिद्धान्त पर पहुँचा हूँ,—ये सभी बातें मैं आप लोगों के समक्ष रख देना चाहता हूँ। परन्तु दुःख है कि अधिक बिलम्ब हो जाने के कारण मैं आप लोगों का

अधिक समय नहीं लेना चाहता। अतः जाति-भेद आदि अन्य समस्याओं पर मैं फिर कभी कुछ कहूँगा। आशा है, हम लोग भविष्य में शान्ति तथा सुव्यवस्थापूर्वक सभा का कार्य आरम्भ करने का प्रयत्न करेंगे।

सज्जनो ! अब केवल एक बात कह कर मैं अपना आध्यात्मिकतत्त्व-विषयक वक्तव्य समाप्त कर दूँगा। भारतवर्ष का धर्म बहुत दिनों से गति-हीन है। वह स्थिर होकर एक स्थान पर टिका हुआ है। हम चाहते हैं कि उसमें गति उत्पन्न हो। मैं प्रत्येक मनुष्य के जीवन में इस धर्म को प्रतिष्ठित हुआ देखना चाहता हूँ। मैं चाहता हूँ कि प्राचीनकाल की भाँति राजमहल से लेकर दरिद्र के झोंपड़े तक में धर्म का प्रवेश सर्वत्र समानभाव से हो। स्मरण रहे, धर्म ही इस जाति का जन्मसिद्ध स्वत्व है। उस धर्म को प्रत्येक आदमी के द्वार तक निःस्वार्थ भाव से पहुँचाना होगा। जिस प्रकार ईश्वर के राज्य में सबके लिए वायु समान रूप से प्राप्त होती है, उसी तरह भारतवर्ष में धर्म को भी सुलभ बनाना होगा। भारतवर्ष में इसी तरह कार्य करना होगा, परन्तु छोटी-मोटी दलबन्दियों अथवा सम्प्रदायों द्वारा नहीं। कार्य-प्रणाली के सम्बन्ध में अभी मैं आपको केवल इतना ही इशारा कर सकता हूँ कि हम सबका जिन विषयों में एक मत है, उनका प्रचार किया जाय; फिर जिन विषयों में मतभेद है, वे स्वयं ही दूर हो जाएँगे। मैंने भारतवासियों से बार-बार कहा है और अब भी कह रहा हूँ कि यदि कमरे में सैकड़ों वर्षों से अँधेरा फैला हुआ है तो क्या "घोर अन्धकार ! भयङ्कर अन्धकार !" कह कर चिल्लाने से ही अँधेरा दूर हो जाएगा ? नहीं। रोशनी जलादो, फिर देखो

कि अन्धेरा स्वयं ही दूर हो जाता है अथवा नहीं । मनुष्य के संस्कार का यही रहस्य है । मनुष्य के हृदयों में उच्चतर विषय तथा भावों का समावेश करो—पहले ही किसी पर अविश्वास करके कार्य-क्षेत्र में मत उतरो । मनुष्य पर—बुरे-से-बुरे मनुष्य पर भी विश्वास करके मैं कभी विफल नहीं हुआ हूँ । सब जगह मुझे इच्छित-फल ही प्राप्त हुआ है—सब जगह सफलता ही मिली है । अतः मनुष्य पर विश्वास करो - चाहे वह पंडित हो अथवा घोर मूर्ख, साक्षात् देवता जान पड़े अथवा मूर्त्तिमान शैतान हो, परन्तु मनुष्य पर विश्वास अवश्य करो । फिर यह समझने का प्रयत्न करो कि उसमें किसी तरह की असम्पूर्णता है अथवा नहीं । यदि वह कोई गलती करे, अत्यन्त घृणित तथा असार मत ग्रहण करे, तो भी यही समझो कि वह अपने वास्तविक स्वभाव के कारण नहीं, अपितु ऊँचे आदर्श के अभाव के कारण ही वैसा कर रहा है । यदि कोई आदमी असत्य की ओर जाता है, तो उसका यही कारण समझो कि वह सत्य को पकड़ नहीं पाता । अतः मिथ्या को दूर करने का एकमेव उपाय यही है कि उसे सत्य का ज्ञान करवाया जाय । उस ज्ञान को पाकर वह उसके साथ अपने मन के भाव की तुलना करे । तुमने तो उसे सत्य का यथार्थ रूप दिखा दिया—बस, तुम्हारा काम यहीं समाप्त हो गया । अब वह स्वयं सत्य के साथ अपने मन के भाव की तुलना कर देखे । यदि तुमने वास्तव में उसे सत्य का ज्ञान करा दिया है, तो निश्चित समझो कि उसका मिथ्या-भाव अवश्य दूर हो जाएगा । प्रकाश कभी भी अन्धेरे का नाश किए बिना नहीं रह सकता । सत्य अवश्य ही उसके भीतर सद्भावों को प्रकाशित करेगा ।

यदि सम्पूर्ण देश का आध्यात्मिक-संस्कार करना चाहते हो, तो उसके लिए यही मार्ग है—एकमात्र यही मार्ग है। वाद-विवाद अथवा लड़ाई-झगड़े से कभी अच्छा परिणाम नहीं निकल सकता। उनसे यह कहने की भी आवश्यकता नहीं है कि तुम लोग जो कुछ कर रहे हो, वह ठीक नहीं है—खराब है। आवश्यकता तो इस बात की है कि जो कुछ अच्छा है, उसे उनके सामने रख दो, फिर यह देखो कि वे उसे कितने आग्रह के साथ ग्रहण कर लेते हैं। मनुष्यमात्र के भीतर जो अविनाशी ईश्वरीय-शक्ति है, वह जो भी अच्छा कहलाने योग्य है, केवल उसी को हाथ फैला कर ग्रहण करती है।

जो हमारी समस्त जाति के सृष्टिकर्त्ता तथा रक्षक हैं, जो हमारे पूर्वजों के ईश्वर हैं—चाहे वे विष्णु, शिव, शक्ति अथवा गणपति कोई भी हो—साकार हों अथवा निराकार—जिन्हें जानकर हमारे पूर्वजों ने 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'' कहा है, वे अपना अनन्त प्रेम लेकर हमारे भीतर प्रवेश करें—हमारे ऊपर अपने शुभ आशीर्वाद की वर्षा करें, ताकि हम उनकी कृपा से एक-दूसरे को समझ सकें। हम वास्तविक प्रेम तथा प्रबल सत्यानुराग के साथ एक-दूसरे के लिए कार्य कर सकें तथा भारतवर्ष की आध्यात्मिक-उन्नति के हेतु किए जाने वाले महत्कार्य के भीतर हमारे व्यक्तिगत यश, व्यक्तिगत स्वार्थ अथवा व्यक्तिगत गौरव की अणुमात्र आकांक्षा भी प्रवेश न करने पाए।

विवेकानन्द-साहित्य

१. प्राच्य तथा पाश्चात्य	१०. स्वदेश में विवेकानन्द
२. वेदान्त-रहस्य	११. विदेशों में विवेकानन्द
३. ज्ञान-रहस्य	१२. शिकागो के भाषण
४. धर्म-रहस्य	१३. राजयोग
५. भक्ति-रहस्य	१४. प्रेमयोग
६. शिक्षा, संस्कृति और समाज	१५. कर्मयोग
७. युवक और युवतियों से	१६. भक्तियोग
८. हमारा भारत	१७. ज्ञानयोग (१)
९. हिन्दूधर्म क्या है ?	१८. ज्ञानयोग (२)

प्रत्येक का मूल्य दो रुपया

सभी प्रमुख विक्रेताओं से सुलभ

प्रभात प्रकाशन

२०५, चावड़ी बाजार, दिल्ली–६